राष्ट्र भारती—५

गद्य-संकलन

(दशम एवं एकादश वर्गों के लिए)

बिहार स्टेट टेक्स्टबुक पब्लिशिंग कॉरपोरेशन लिमिटेड

राष्ट्र-भारती

भाग ५

गद्य-संकलन

(दशम एवं एकादश वर्गों के लिए)

Amar Nath Keshri
Abarpoolpar, ARRAH (Bhojpur)

अमर नाथ केशरी
अबर पूल पार, आरा
X A. रो० नं०-33
विषयः— गद्य संकलन

To,

AMAR NATH KESHRI,
ABAR POOL PAR (ARRAH)
(BHOJPUR) (BIHAR)

बिहार स्टेट टेक्स्टबुक पब्लिशिंग कॉरपोरेशन लिमिटेड

लोक शिक्षा निदेशक, बिहार, द्वारा स्वीकृत

अनुयोजन समिति
श्री नवल किशोर गौड़, श्री देवनारायण सिंह
डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव

प्रथम संस्करण : १९६९—२,००,०००
द्वितीय संस्करण : १९७०—१,००,०००
पुनर्मुद्रण : १९७१— ५०,०००
तृतीय संस्करण : १९७२—१,००,०००
संशोधित संस्करण : १९७३—१,००,०००

मूल्य : ३.१५ रु०

सेक्रेटरी, बिहार स्टेट टेक्स्टबुक पब्लिशिंग कॉरपोरेशन लिमिटेड,
ह्वाइट हाउस, बुद्धमार्ग, पटना-१ द्वारा प्रकाशित तथा टेक्स्टबुक
प्रेस पटना में मुद्रित।

प्राक्कथन

उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्धारण तथा उसके अनुरूप पाठ्यग्रंथों की रचना राष्ट्रीय महत्त्व का कार्य है। कुछ वर्षों से केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है और वह इस दिशा में आवश्यक अनुसंधान तथा निर्माण की योजनाएँ बना रहा है। इनमें से ही एक योजना के अंतर्गत उच्च माध्यमिक कक्षाओं के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण की व्यवस्था की जा रही है। योजना का लक्ष्य तो आदर्श पाठ्यपुस्तकें तैयार करना है, परंतु आदर्श प्रायः असाध्य ही होता है। फिर भी हमारा प्रयास यह अवश्य है कि सामान्य त्रुटियों का यथासंभव निराकरण हो सके और विविध दृष्टियों से उपादेय सामग्री का स्तर के अनुरूप विधिवत् संचयन किया जा सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर अनुभवी शिक्षाविदों की एक समिति का संगठन किया गया है जिसके तत्त्वावधान में इस ग्रंथमाला का संपादन तथा प्रकाशन हो रहा है। इस समिति में अनुभवी शिक्षक, हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विद्वान तथा प्रशिक्षण-विशेषज्ञ सम्मिलित हैं।

इन पुस्तकों की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

(क) पुस्तकों के संपादन में यह ध्यान रखा गया है कि उच्च माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों को हिन्दी-साहित्य के सभी प्रमुख रूपों की जानकारी मिल सके। इसी दृष्टि से प्राचीन और अर्वाचीन कवियों तथा लेखकों की उत्कृष्ट रचनाएँ संगृहीत की गई हैं।

(ख) विद्यार्थियों के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठानेवाली रचनाओं को विशेष स्थान दिया गया है। निराशावादी एवं भाग्यवादी रचनाएँ यथासंभव सम्मिलित नहीं की गई हैं। इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि भारतीय संस्कृति के प्रति आस्थावान् बनने के साथ-साथ विद्यार्थी विश्वजनीन दृष्टिकोण भी अपना सकें।

(ग) साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध ऐसी रचनाओं को प्राथमिकता दी गई है जिनसे भारत की राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता को बल मिले। हिन्दीतर भाषाओं से अनूदित कुछ रचनाओं के संकलन का यही प्रयोजन है।

(घ) रचनाओं को छात्रों के बौद्धिक स्तर के अनुरूप बनाने के लिए कहीं-कहीं उनका आवश्यक संपादन भी किया गया है, पर ऐसा करते समय दृष्टि यही रही है कि रचना के साहित्यिक सौष्ठव को कोई क्षति न पहुँचे।

(ङ) रचनाओं के संकलन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि विद्यार्थियो को रोचक ढंग से एक ओर ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों और दूसरी ओर साहित्य की विविध शैलियों का बोध हो सके।

(च) अध्ययन-अध्यापन की सुविधा की दृष्टि से गद्य तथा काव्य की पुस्तकों को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है।

(छ) भूमिका में हिन्दी गद्य तथा कविता के विकास का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। पाठों के अंत में विषय से संबद्ध प्रश्न और अभ्यास तथा पुस्तक के अंत में गूढ़ार्थ-व्यंजक टिप्पणियाँ हैं। इनसे अध्ययन-अध्यापन में सुविधा होगी।

कृति लेखकों तथा उनके प्रकाशकों ने उदारतापूर्वक अपनी-अपनी रचनाएँ संकलन में सम्मिलित करने की स्वीकृति प्रदान कर हमें उपकृत किया है—हम उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं। हिन्दी-पाठ्यपुस्तक समिति के विद्वान सदस्यों, संपादन-सलाहकारों तथा अन्य विशेषज्ञों के प्रति जिन्होंने इन पुस्तकों के संपादन में सहायता दी है, हम आभार प्रकट करते हैं। शिक्षा के सिद्धांत और व्यवहार में निपुण इस विद्वन्मंडल के अथक सहयोग के बिना यह कार्य पूरा नहीं हो सकता था।

राष्ट्र-भारती

भाग ५

गद्य-संकलन

गद्य-संकलन का यह भाग माध्यमिक विद्यालयों की दसवीं और ग्यारहवीं कक्षाओं के लिए तैयार किया गया है। इन कक्षाओं से उत्तीर्ण होकर कुछ छात्र विश्वविद्यालयों में जाएँगे और शेष बाह्य जगत में प्रवेश करेंगे जहाँ उनके बोध और अभिव्यक्ति का विशेष माध्यम मातृभाषा का गद्य ही होगा। इस दृष्टि से गद्य की सभी प्रमुख विधाओं से उनका परिचय हो जाना आवश्यक है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर इस भाग के पाठों का चयन किया गया है।

श्यामसुंदरदास और प्रेमचंद की रचनाएँ उनके मन में साहित्य का सामान्य रूप से तथा भारतीय साहित्य का विशेष रूप से चित्र प्रस्तुत कर सकेंगी।

हिन्दी निबंध-साहित्य के विषयों और शैलियों की व्यापकता का परिचय देने की दृष्टि से जिन निबंधों का संकलन किया गया,उनमें हैं : पूर्णसिंह का 'मजदूरी और प्रेम,' सियारामशरण गुप्त की 'कवि-चर्चा,' रामवृक्ष बेनीपुरी का 'नई संस्कृति की ओर', महादेवी वर्मा का 'घर और बाहर' तथा वासुदेवशरण अग्रवाल का 'राष्ट्र का स्वरूप'। पद्मसिंह शर्मा के 'श्री सत्यनारायण कविरत्न' तथा जवाहरलाल नेहरू के 'जेल में जीव-जंतु' में जीवनी तथा आत्मकथा की शैलियों की झलक मिलेगी।

कथा-साहित्य में प्रेमचंद का 'पंच-परमेश्वर' से सत्संकल्प, सत्यनिष्ठा आदि गुणों की प्रतिष्ठा होगी तथा राधिकारमण प्रसाद सिंह के 'दरिद्रनारायण' में चित्रात्मक मुहावरेदार चुलबुले शैली में प्रस्तुत मानवतावादी चिन्ताधारा की झलक दिखाई पड़ेगी।

वृंदावनलाल वर्मा का 'शेर का शिकार' छात्रों में उत्साह जगाकर उनकी शौर्य-वृत्ति का परितोष करेगा और विनोबा का 'प्रार्थना' शीर्षक निबंध उन्हें जीवन के भव्यतर सत्यों का परिचय कराएगा।

चतुरसेन शास्त्री का 'सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष' शीर्षक पाठ मातृभाषा के माध्यम से साहित्येतर विषयों के चिन्तन तथा विवेचन की योग्यता प्राप्त करने में सहायक होंगे। काका कालेलकर का 'अहिंसा की पुण्यभूमि' में अतीत के गौरव की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

सीमा पर बढ़ती हुई शत्रु की गर्जनाओं के मुकाबले में भारतवासियों की भावनात्मक एकता के संकल्प को दृढ़ करना कितना आवश्यक है, यह तथ्य आज स्वतः स्पष्ट है।

डा० नगेन्द्र का 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' निबंध इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा।

जगदीशचंद्र माथुर के 'एक जन्मजात चक्रवर्ती' से चरित्र लेखन तथा हरिशंकर परसाई के 'बेचारा भला आदमी' से सोद्देश्य शिष्ट व्यंग्य के नमूने प्राप्त होंगे।

विषय-सूची

क्रम-संख्या		पृष्ठ
भूमिका		
१. श्यामसुंदर दास	परिचय	१
	हमारे साहित्य की विशेषताएँ	३
२. पद्मसिंह शर्मा	परिचय	१०
	श्री सत्यनारायण कविरत्न	१२
३. प्रेमचंद	परिचय	१७
	पंच-परमेश्वर	१६
४. पूर्णसिंह	परिचय	३१
	मजदूरी और प्रेम	३३
५. रामचंद्र शुक्ल	परिचय	४२
	उत्साह	४४
६. काका कालेलकर	परिचय	५४
	अहिंसा की पुण्यभूमि	५७
७. वृंदावनलाल वर्मा	परिचय	६४
	शेर का शिकार	६६
८. जवाहरलाल नेहरू	परिचय	७२
	जेल में जीव-जंतु	७४
९. जयशंकर प्रसाद	परिचय	८२
	भारत का एक ब्राह्मण	८४
१०. चतुरसेन शास्त्री	परिचय	८६
	सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष	६१
११. राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह	परिचय	१००
	दरिद्रनारायण	१०२
१२. विनोबा भावे	परिचय	१०८
	प्रार्थना	११०
१३. सियारामशरण गुप्त	परिचय	११३
	कवि-चर्चा	११५

क्रम-संख्या		पृष्ठ
१४. रामवृक्ष बेनीपुरी	परिचय	१२२
	नई संस्कृति की ओर	१२५
१५. वासुदेवशरण अग्रवाल	परिचय	१३०
	राष्ट्र का स्वरूप	१३२
१६. महादेवी वर्मा	परिचय	१३८
	घर और बाहर	१४०
१७. नगेन्द्र	परिचय	१५०
	भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	१५२
१८. जगदीशचंद्र माथुर	परिचय	१६०
	एक जन्मजात चक्रवर्ती	१६२
१९. हरिशंकर परसाई	परिचय	१७१
	बेचारा भला आदमी	१७३
टिप्पणियाँ		१७८

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी से भारतीय इतिहास में पुनरुत्थान-युग आरंभ होता है। इस समय जीवन का विकास नए रूपों में हो रहा था। पाश्चात्य साहित्य के संपर्क से हमारे ज्ञान क्षेत्र का विस्तार होने लगा था। साहित्य, शिक्षा, दर्शन तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक रूपों का हमारे जीवन में समावेश हुआ, जिनकी अभिव्यक्ति पद्य के द्वारा संभव न थी। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन और राजनीतिक आंदोलनों के रूप में जीवन के नाना क्षेत्रों में एक नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। इसी समय डाक, तार, रेल आदि की सुविधाओं के कारण परस्पर व्यवहार, विचार-विनिमय और शिक्षा में वृद्धि हुई। इस बढ़ती हुई चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य के उपयुक्त माध्यम के रूप में हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने खड़ीबोली-गद्य में प्रभूत मात्रा में प्रचार-साहित्य प्रकाशित किया। सन् १८०३ ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। लल्लूलाल एवं सदल मिश्र ने इसी कालेज में 'भाषा-मुंशी' के पद पर रहते हुए खड़ीबोली-गद्य में 'प्रेम सागर' एवं 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तकें लिखीं। इस कालेज की परिधि के बाहर इसी समय सदासुखलाल एवं इंशाअल्ला खाँ भी हिन्दी-गद्य में रचना कर रहे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्कूलों की आवश्यकताओं के अनुरूप राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भी कई किताबें लिखीं। उनकी भाषा में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता था। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त शुद्ध हिन्दी का आदर्श सामने रखा। इसी समय आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती एवं उनके अनुयायियों ने हिन्दी-गद्य में कई ग्रंथ लिखे और खड़ीबोली-गद्य के विकास तथा प्रसार में योग दिया।

हिन्दी-गद्य-विकास के इस प्रारंभिक चरण में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का उदय हुआ। उन्होंने बोलचाल की भाषा के आधार पर हिन्दी-गद्य को व्यावहारिक रूप दिया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने नाटक, निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि विभिन्न प्रकार के गद्य-साहित्य की रचना की। विविध विषयों के अनुरूप उन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियों को अपनाया। भारतेन्दु अपने युग के लेखकों के प्रेरणा-केन्द्र थे। वे हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का कार्यकाल सन् १८७० से १९०० ई० तक फैला हुआ है। वैसे सामान्यत: सन् १८५० से १९०० ई० तक का समय हमारे साहित्य में 'भारतेन्दु-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी में भारतेन्दु के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली

रहा है। द्विवेदी जी ने भी अपने युग में साहित्य का दिशा-निर्देशन किया और भाषा को व्यवस्था प्रदान की। हिन्दी-गद्य-साहित्य की विषय-वस्तु, भाषा एवं शैली पर उनकी गहरी छाप है। उनके इसी व्यापक प्रभाव के कारण सन् १६०० से १६२० ई० तक का समय 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

लगभग सन् १६२० ई० से हिन्दी-गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। भाषा अधिक शक्तिसंपन्न हुई, अभिव्यंजना-शैलियों में परिष्कार हुआ तथा विविध प्रकार के साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना की गई। रामचंद्र शुक्ल तथा श्यामसुंदरदास ने निबंध एवं आलोचना में नए जीवन का संचार किया। प्रेमचंद्र ने बोलचाल की भाषा का परिमार्जन करते हुए कथा-साहित्य को समृद्ध किया तथा जयशंकर प्रसाद ने नाटकों के क्षेत्र में अपनी मौलिक सृजन-प्रतिभा का परिचय दिया। इसी समय उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन भी आरंभ हुआ। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी। इतिहास-पुरातत्त्व, दर्शन, समाजशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान आदि विषयों पर भी ग्रंथ-रचना प्रारंभ हुई।

सन् १६२० ई० के बाद से आज तक विस्तृत इस युग को किसी एक नाम के साथ जोड़ना संभव नहीं है। यह बहुमुखी विकास और समृद्धि का युग है। इस युग को भी दो काल-खंडों में बाँटा जा सकता है। सन् १६२० से १६४० ई० तक का समय कविता के क्षेत्र में 'छायावाद-युग' के नाम से प्रसिद्ध है, उसे गद्य के क्षेत्र में हम 'समृद्धि-युग' कह सकते हैं। सन् १६४० ई० के आसपास से साहित्य के रूप, शैली, भाषा, भाव आदि में पुनः परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं और वे अब भी चल रहे हैं। किसी अन्य अधिक सार्थक नाम के अभाव में इसे हम 'समसामयिक युग' कह सकते हैं।

विविध साहित्य-विधाओं के आधार पर गद्य के विकास का इतिवृत्त संक्षेप में इस प्रकार है:

निबंध

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने निबंध-रचना का श्रीगणेश किया। ये निबंध पत्र-पत्रिकाओं के लिए ही लिखे जाते थे और पत्रों के संपादक प्रायः निबंधों के लेखक भी हुआ करते थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन ने क्रमशः 'कविवचन सुधा', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनंद कादंबिनी' का संपादन किया था। इस समय के निबंधों में विषयों की अनेकता, समाजसुधार-भावना, राजनीतिक चेतना, रोचकता आदि पत्रकारिता के गुण मिलते हैं, किन्तु इनमें गंभीरता का अपेक्षाकृत अभाव है। सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब इन निबंधों में मिलता है। इस युग के लेखकों का दृष्टिकोण प्रगतिशील था। वे जर्जर रूढ़ियों पर प्रहार तो करते थे, परंतु नवीनता का अंधानुकरण नहीं करते थे। देश-जाति की उन्नति के विविध पक्षों पर इन निबंधों में विचार व्यक्त किए गए हैं। विषय से हटकर भी ये निबंध-लेखक देशोद्धार की बातों को ले आते थे। हास्य-व्यंग्य इनका प्रधान अस्त्र था। बालकृष्ण भट्ट ने 'आत्म-

निर्भरता' जैसे गंभीर निबंध भी लिखे हैं पर विचार की वैसी गहनता उनमें नही है जैसी आगे चलकर रामचंद्र शुक्ल में मिलती है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक व्यक्तियों पर भी इस काल के लेखको ने अच्छे निबंध प्रस्तुत किए हैं। उस समय तक हिन्दी-गद्य की कोई व्यवस्थित और परिनिष्ठित शैली नहीं बन पाई थी। लेखकों ने अपनी-अपनी शिक्षा और संस्कारों के अनुरूप अलग-अलग शैलियों का विकास किया। भाषा के स्थानीय प्रयोगों, मुहावरों एवं उक्तिवैचित्र्य ने उस युग की निबंध-शैली में एक विशेष सजीवता उत्पन्न कर दी है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक नई शिक्षा में दीक्षित व्यक्तियों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या और बढ़ी। इस प्रकार पाठकों के साथ ही लेखकों का समुदाय भी बढ़ता गया। परंतु किसी व्यवस्थित शैली या आदर्श का फिर भी अभाव बना रहा। शब्द-भंडार, व्याकरण, वाक्यसंगठन आदि का कोई स्थिर रूप न था। इसी समय (सन् १९०३ ई० में) महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन भार सम्हाला। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिन्दी-गद्य को व्यवस्थित किया। पाठक-समुदाय की ज्ञान की भूख को तृप्त करने के लिए द्विवेदी जी ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर लेख लिखवाए। इन निबंधों का स्वर स्वभावतः भारतेन्दु-युग के निबंधों से अधिक गंभीर था। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, रायल एशियाटिक सोसायटी एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं के माध्यम गंभीरतर साहित्यिक विषयों के अनुसंधान और प्रकाशन का प्रयत्न हुआ। फलतः द्विवेदी-युग (सन् १९००–१९२० ई०) के निबंधों में व्यंग्य-विनोद एवं सजीवता के स्थान पर शैली की दृष्टि से गंभीरता एवं विषयवस्तु की दृष्टि से उपयोगी सूचनाओं की वृद्धि होने लगी थी। इस युग के निबंध लोक-शिक्षा के माध्यम हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुंदरदास, गुलाबराय, मिश्रबंधु, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद्र शुक्ल आदि के निबंधों में पत्रकार के स्थान पर अध्यापक के स्वर की प्रमुखता हो गई थी। सरदार पूर्णसिंह, गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र और पद्मसिंह शर्मा ने व्यक्तिपरक, भावात्मक और संस्मरणात्मक निबंध भी इस युग में लिखे। चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों में पांडित्य एवं व्यंग्य-विनोद का सरस समन्वय हुआ है।

द्विवेदी-युग के उपरांत साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र बनानेवाले निबंधकार भी सामने आए। ऐसे निबंधकारों में पं० रामचंद्र शुक्ल मुख्य हैं। गंभीर विचार, उदात्त भाव, हास्य-व्यंग्य के सरस छींटे उनके निबंधों में मिलते हैं। विशिष्ट शैली एवं वैयक्तिक स्पर्श से उनके विषयपरक निबंध भी रोचक बन गए हैं। श्यामसुंदरदास, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस युग में भी बराबर लिखते रहे। इनमें गुलाबराय एवं बख्शी आत्मपरक निबंध लेखक के रूप में भी विख्यात हैं। इसी समय प्रेमचंद ने मुहावरेदार, सजीव एवं सरल व्यावहारिक शैली का आदर्श उपस्थित किया। प्रसाद जी ने भी कतिपय पांडित्यपूर्ण एवं मौलिक निबंध लिखे।

साहित्य-विषयक निबंध-परंपरा के परवर्ती लेखकों में रामचंद्र शुक्ल 'शिलीमुख', हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, अज्ञेय आदि मुख्य हैं। महादेवी वर्मा ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं और गहन संवेदना से प्रेरित होकर समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के संस्मरण भी प्रस्तुत किए हैं।

साथ ही भावात्मक एवं शुद्ध आत्मपरक निबंधों की परंपरा भी बराबर चलती रही। शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी एवं रघुवीरसिंह के निबंध स्वानुभूति से सिक्त हैं। राहुल सांकृत्यायन, सत्यदेव परिव्राजक, रामवृक्ष बेनीपुरी, अज्ञेय, श्रीराम शर्मा ने यात्रा, प्राकृतिक दृश्य, शिकार आदि से संबंधित वर्णनात्मक निबंध लिखे हैं। राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि के नाम गद्यकाव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

विश्वंभरनाथ कौशिक लिखित 'दुबे जी की चिट्ठी', यशपाल के 'चक्कर क्लब', प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' आदि संग्रहों में व्यंग्यात्मकता के दर्शन होते हैं।

नाटक

मध्य युग में हिन्दी में संस्कृत-नाटकों की परंपरा के अंतर्गत कुछ नाटक लिखे तो गए पर वे साहित्य में महत्त्व नहीं पा सके। उस समय का गद्य भी नाट्य-रचना के उपयुक्त न था और रंगमंच का भी अभाव था। भारतेन्दु के समय में कुछ पारसी थियेटर कंपनियाँ निम्नस्तर के नाटकों का प्रदर्शन करके सुरुचि को गिरा रही थीं। भारतेन्दु ने इनसे मोर्चा लिया। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे, लिखवाए तथा उनके अभिनय में भी सक्रिय योग दिया। इस काल के लेखकों ने राष्ट्रप्रेम, समाजसुधार, पौराणिक एवं ऐतिहासिक आदर्श चरित्रों आदि विषयों पर सरल शैली में नाटक लिखे। जीवन और समाज की असंगतियों पर इस काल में प्रहसन भी लिखे गए। दुर्भाग्यवश हिन्दी में भारतेन्दु के प्रयत्नों के बावजूद रंगमंच की कोई परंपरा नहीं बन सकी। भारतेन्दु-युग की समाप्ति होते-होते नाटकों की ओर झुकाव फिर कम हो गया और द्विवेदी-युग में हमें उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलते। केवल बद्रीनाथ भट्ट ने इस दिशा में कुछ प्रयत्न किए। भारत के प्राचीन गौरव को जगाने के लिए मिश्रबंधु, वियोगी हरि आदि ने कुछ ऐतिहासिक नाटक लिखे।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का प्रवेश युगांतरकारी घटना है। उन्होंने इतिहास के कंकालों में प्राण फूँके और सजीव पात्रों की सृष्टि की। गंभीर दार्शनिक दृष्टि, जीवन की प्राणवती चेतना, अलंकृत कवित्वमय शैली, मार्मिक गीतयोजना आदि ने उनके नाटकों को कलापूर्ण बना दिया है। अजातशत्रु, स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, सुदर्शन आदि इस युग के अन्य मुख्य नाटककार हैं।

प्रसाद जी के पश्चात् समसामयिक युग में पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ

से प्रभाव ग्रहण करते हुए लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ समस्याप्रधान नाटक लिखे। इनमें 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि मुख्य हैं। इसी समय भुवनेश्वरप्रसाद एवं रामकुमार वर्मा ने एकांकी नाटकों का लिखना प्रारंभ किया। उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर आदि आजकल के प्रसिद्ध नाटककार हैं। रेडियो के लिए भी बड़ी संख्या में नाटक लिखे गए हैं। लोकनाटकों एवं व्यावहारिक रंगमंचीय प्रयोगों पर पिछले दशक में विशेष ध्यान दिया गया है।

उपन्यास

प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी-उपन्यास मनोरंजन का साधन अधिक था—सामाजिक चेतना एवं मानवीय संघर्षों का वाहक कम। उपन्यास के नाम पर या तो तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी घटनाओं का चमत्कार मिलता है या फिर कुछ अर्द्धऐतिहासिक कथानकों में अतीत की महिमा का गान। श्रीनिवासदास, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकार हैं। देवकीनंदन खत्री के 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' बहुत लोकप्रिय हुए।

प्रेमचंद ने हिन्दी-उपन्यास को वास्तविक रूप प्रदान किया। उनके प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' (१९१३ ई०) में सामाजिक जीवन का निरीक्षण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं उपर्युक्त कथाशैली पाई जाती है। नाटक के क्षेत्र में जो कार्य प्रसाद जी ने किया, वही उपन्यास-कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद ने। उन्होंने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मानकर उसका चित्रण किया। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान' आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। इसी समय विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, उग्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, जयशंकर प्रसाद आदि ने भी अच्छे उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृंदावनलाल वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी', 'कचनार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'माधव जी सिंधिया', उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का परिवेश तो ऐतिहासिक है, पर उसकी शैली सर्वथा भिन्न है।

'समसामयिक युग' में हिन्दी उपन्यास पर मनोविश्लेषण-शास्त्र एवं मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट है। कुछ लेखकों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ मिल जाती हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि प्रेमचंद के बाद के मुख्य उपन्यासकार हैं। बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में 'आंचलिक' नाम से उपन्यासों में एक नई प्रवृत्ति आई है। इसमें घटना या पात्रों पर उतना आग्रह नहीं होता जितना कि एक क्षेत्र-विशेष या विशिष्ट जीवन खंड को उसकी समग्रता में चित्रित करने की चेष्टा होती है। फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' और नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' ऐसे ही उपन्यास हैं।

कहानी

हिन्दी-कहानी का आरंभ भी उपन्यासों की भाँति ही छायानुवादों से हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कुछ गिनीचुनी ही मौलिक कहानियाँ मिलती हैं—पर दूसरे दशक में प्रेमचंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, जयशंकर प्रसाद आदि लेखकों ने कुछ उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं। वस्तुत: इस क्षेत्र में भी उपन्यासों के समान ही गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचंद की देन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी तीन सौ से अधिक कहानियों में उन्होंने भारतीय जीवन के विविध वर्गों, पात्रों और समस्याओं को वाणी दी है।

प्रेमचंद के अनंतर हिन्दी-कहानी को जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल ने सबसे अधिक प्रभावित किया। जैनेन्द्र और अज्ञेय की कहानियों में चित्रित जीवन का क्षेत्र अवश्य सीमित हो गया, परंतु व्यक्ति के मन का अधिक सूक्ष्मता और गहराई से अंकन किया गया। यशपाल ने प्रेमचंद की समाजोन्मुखी विचारधारा को मार्क्सवाद के साथ समन्वित कर और आगे बढ़ाया। इसी समय इलाचंद्र जोशी, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अश्क आदि ने हिन्दी-कहानी-साहित्य की वृद्धि में योग दिया। राहुल, भगवतशरण उपाध्याय आदि ने ऐतिहासिक विषय-वस्तु पर कहानियाँ लिखीं। पिछले दशक में हिन्दी-कहानी-साहित्य अधिक प्रौढ़ और समृद्ध हुआ है।

आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना की परंपरा संस्कृत एवं हिन्दी में बहुत पुरानी है। पर आधुनिक साहित्य के विवेचन एवं मूल्यांकन के लिए व्यावहारिक आलोचना की आवश्यकता पड़ी। इस नई आलोचना का पहला रूप पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में भारतेन्दु-युग में प्रारंभ हो गया था। बालकृष्ण भट्ट एवं उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने व्यावहारिक समालोचना के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास किए। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में सैद्धांतिक आलोचना का भी श्रीगणेश किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में पुस्तक-समीक्षा का स्तर ऊँचा किया और प्राचीन कवियों की व्यवस्थित आलोचना की परिपाटी चलाई। इसी समय नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में खोजपूर्ण निबंध लिखे जाने लगे जिनकी परंपरा में आगे चलकर विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबंध लिखे गए। चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुंदरदास, गौरीशंकर हीरा चंद ओझा आदि ने इस प्रकार की शोधपूर्ण आलोचनाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णविहारी मिश्र आदि ने तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखीं।

परंतु हिन्दी आलोचना के वास्तविक रूप का विकास तीसरे एवं चौथे दशकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हुआ। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'तुलसी', 'सूर' एवं 'जायसी' की समीक्षात्मक भूमिकाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना तथा 'चिन्तामणि' के निबंधों द्वारा सैद्धांतिक समीक्षा को शुक्ल जी ने विशेष शास्त्रीय गरिमा प्रदान की।

वस्तुत: शुक्ल जी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं।

शुक्ल जी के बाद शास्त्रीय समीक्षा-प्रणाली को बाबू गुलाबराय, नंददुलारे बाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने आगे बढ़ाया है। समसामयिक युग के ये प्रमुख समीक्षक हैं। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी-आलोचना पर पड़ा। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि ने प्रथम एवं रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि ने दूसरे प्रभाव के अंतर्गत अपनी समीक्षाएँ लिखीं। विश्वविद्यालयों के अंतर्गत होनेवाले शोधकार्य के परिणामस्वरूप भी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

गद्य की इन मुख्य विधाओं के अतिरिक्त जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र, डायरी, इंटरव्यू, रिपोर्ताज, गद्यकाव्य आदि अन्य अनेक विधाओं में भी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हुई हैं और एक शताब्दी के भीतर ही हिन्दी-गद्य पर्याप्त शक्ति-संपन्न हो गया है।

भाषा और व्यंजना-शक्ति का विकास

संकलन के इस भाग में भारतेन्दु के समय से लेकर आज तक के निबंध संकलित हैं। काल-विस्तार की दृष्टि से लगभग एक शताब्दी की भाषा-शैली का विकास इसमें देखा जा सकता है। भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट के निबंध केवल इस दृष्टि से संकलित हैं कि इनकी भाषा से आजकल की भाषा से तुलना करके इस बीच में हुए क्रमिक परिवर्तन एवं विकास को समझा और परखा जा सके। भारतेन्दु के समय तक साहित्य का माध्यम गद्य नहीं था। इस समय के लेखकों की दो विशेषताएँ थीं; एक तो सब में हिन्दी की सेवा करने का उत्साह था, दूसरे सब की भाषा-शैलियाँ एक-दूसरे से बहुत दूर थीं। आज भी किन्हीं दो लेखकों की शैलियों में अंतर का स्पष्ट निर्देश किया जा सकता है, पर इसके साथ ही भाषा का एक स्थिर स्वरूप भी विकसित हो चुका है जिसको अपनाने की सभी लेखक यथाशक्ति चेष्टा करते हैं।

भारतेन्दु के समय में शब्दों के प्रयोग निश्चित नहीं हो पाए थे। प्रत्येक लेखक अपनी जानकारी और मान्यता के अनुसार शब्दों का प्रयोग कर लेता था। इसके साथ ही लेखक स्थानीय शब्दों का भी व्यवहार कर लेते थे। भारतेन्दु की भाषा में काशी में प्रयुक्त विशिष्ट पदावली ढूँढ़ी जा सकती है। उसी प्रकार लाला श्रीनिवासदास की भाषा में दिल्ली के प्रयोग प्राय: मिल जाते हैं।

वाक्य-रचना में भी बड़ी अव्यवस्था थी। लेखकों को हम प्राय: सरल वाक्यों का प्रयोग करते पाते हैं। यदि कोई लेखक तनिक भी जटिल या गुंफित वाक्य-रचना करना चाहता था तो उसकी वाक्य-रचना कहीं-न-कहीं उलझ जाती थी। व्यवहार द्वारा उपवाक्यों को एक बड़े वाक्य में पिरोने के लिए उपयुक्त संयोजकों का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। समर्थ भाषा के लिए छोटे और सरल वाक्यों का जहाँ महत्त्व है वहीं मिश्रित और गुंफ़ित वाक्य-रचना भी अपेक्षित है। रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी,

अज्ञेय, नगेन्द्र ऐसे लेखकों में बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग मिलता है। पर इस स्थिति तक पहुँचने में भाषा को लगभग एक शताब्दी की लंबी यात्रा करनी पड़ी।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा की अस्थिरता दूर करने के लिए अथक प्रयत्न किया। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और सन् १९२० ई० की 'सरस्वती' पत्रिका की भाषा की परस्पर तुलना करके देखने से द्विवेदी जी की सेवा का मूल्य आँका जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदरदास, पूर्णसिंह, प्रेमचंद तथा उस समय के कुछ अन्य लेखकों के हाथ में पड़कर भाषा का स्वरूप परिमार्जित और स्थिर हुआ। प्रेमचंद उर्दू की ओर से हिन्दी में आए थे। इनकी भाषा में गति थी, मुहावरों का उचित प्रयोग था और विविध भावों को व्यक्त करने की शक्ति थी। प्रेमचंद ने लोक प्रचलित पदावली से अपना संबंध सदा बनाए रखा।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के आसपास एक विशेष प्रवृत्ति हिन्दी में दिखाई पड़ी। यह प्रवृत्ति अंग्रेजी पढ़े-लिखे लेखकों की भाषा में अधिक थी। ये लोग अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी-अनुवाद कर दिया करते थे। 'दृष्टिकोण', 'वातावरण' आदि बहुत से शब्द आज हमारी भाषा में घुल-मिल गए हैं पर ये शब्द अंग्रेजी के ढाँचे पर गढ़े गए हैं। यदि भाषा की परीक्षा की जाए तो ऐसे सैकड़ों शब्द मिलेंगे।

वाक्य रचना पर भी अंग्रेजी का बहुत प्रभाव पड़ा है। रामचंद्र शुक्ल जैसे लेखकों तक के बहुत-से वाक्यों के भीतर अंग्रेजी वाक्यों की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। पर इन समर्थ लेखकों ने अंग्रेजी के प्रभाव को पचा लिया था, इसलिए वह प्रभाव सहज ही लक्षित नहीं होता।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी पर—विशेषतः हिन्दी-गद्य पर—और भी व्यापक हो गया। नव-लेखन के अंतर्गत अंग्रेजी की भंगिमाएँ हिन्दी में सीधी उतरती आती हैं। विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अनुवादों की भाषा पर भी अंग्रेजी का बहुत प्रभाव पड़ा है। दो भाषाएँ जब संपर्क में आती हैं और भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान होता है तो एक का दूसरी पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो जाता है। पर जब यह प्रभाव इतना अधिक हो कि भाषा का स्वरूप ही विकृत होने लगे तो उसका नियंत्रण होना चाहिए।

फिर भी सब मिलाकर आज हिन्दी-गद्य-शैली अत्यंत समृद्ध एवं विकसित हो चुकी है; उसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और गंभीर-से-गंभीर भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है।

गद्य-विधाओं का स्वरूप

निबंध

निबंध का जो अर्थ हिन्दी में विकसित हुआ, उसके मूल में अंग्रेजी का 'एसे' विद्यमान है। आत्मीयता, सरलता, एकान्विति, स्वच्छंदता तथा आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण आदि निबंध के मुख्य लक्षण माने जाते हैं। ये लक्षण भी भिन्न-भिन्न लेखकों में भिन्न-भिन्न मात्रा

और स्वरूप में मिलते हैं। परंतु सफल कलाकृति के लिए यह आवश्यक है कि लेखक अपने पाठकों के साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ हो सके। निबंध की आत्मनिष्ठा भी उसके इसी गुण से संबंधित है। यद्यपि निबंध की न तो कोई पूर्वनिश्चित परिभाषा है और न उसके लिखने की कोई निर्धारित रूपरेखा, फिर भी उसके मुख्य तत्त्वों में लेखक की अपनी उपस्थापनविधि, विचार और उद्देश्य सदैव विद्यमान रहते हैं।

निबंध सामान्यतः (१) कथात्मक, (२) वर्णनात्मक, (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक, चार प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का प्रयोग किया जाता है; जैसे: भारतेन्दु का 'मदालसा' या पद्मसिंह शर्मा का 'श्री सत्यनारायण कविरत्न'। वर्णनात्मक निबंधों में प्रकृति या मनुष्य-जीवन की घटनाओं का वर्णन होता है; यथा: जवाहरलाल नेहरू का 'जेल में जीव-जंतु'। चिन्तन-प्रधान निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसंबद्ध रीति से अपने विशेष दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। रामचंद्र शुक्ल का 'उत्साह' विचारात्मक निबंध का सुंदर उदाहरण है। भावनात्मक निबंधों में लेखक के हृदय से निस्सृत भावधारा ही विचारसूत्र का नियंत्रण करती है। लेखक का उद्देश्य अपनी किसी सरस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाना होता है। इस संकलन में अध्यापक पूर्णसिंह का 'मजदूरी और प्रेम' ऐसा ही निबंध है।

नाटक

सामान्यतः नाटक की विधा का परिगणन गद्य के भीतर ही किया जाता है, यद्यपि पद्य में भी नाटक लिखे गए हैं। नाटक एक ऐसा साहित्य रूप है जिसमें रंगमंच पर पात्रों के द्वारा किसी कथा का प्रदर्शन होता है। यह प्रदर्शन अभिनय, दृश्यसज्जा, संवाद, नृत्य, गीत आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व (१) वस्तु, (२) नायक और (३) रस स्वीकार किए हैं। किन्तु अब नाटक के निम्नांकित छह तत्त्व माने जाते हैं:

(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) देशकाल, (५) उद्देश्य और (६) शैली।

उपन्यास

प्रेमचंद ने उपन्यास के संबंध में लिखा है, "मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" उपन्यास संबंधी अन्य परिभाषाओं की छानबीन करने से ज्ञात होता है कि सभी परिभाषाएँ मूल में मानव-जीवन की कथा को ही स्वीकार करती हैं। वस्तुतः उपन्यास में एक ऐसी विस्तृत कथा होती है जो अपने भीतर अन्य गौण कथाएँ समेटे रहती है। इस कथा के भीतर समाज और व्यक्ति की विविध अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ, नाना प्रकार के दृश्य और घटनाएँ तथा बहुत प्रकार के चरित्र हो सकते हैं और यह कथा विभिन्न शैलियों में कही जा सकती है।

सामान्यत: उपन्यास के छह तत्त्व माने जाते हैं—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण, शैली एवं उद्देश्य। उपन्यास की कथावस्तु मुख्य घटना, प्रासंगिक घटनाओं तथा अंत:सूत्र आदि से मिलकर बनती है। कथावस्तु का विन्यास एवं चरित्र-चित्रण उपन्यास की प्रमुख आवश्यकताएँ हैं और इन दोनों में संवाद का बड़ा महत्त्व होता है। एक विशेष प्रकार के परिवेश में ही प्रत्येक घटना घटित होती है या प्रत्येक पात्र व्यवहार करता है। इस परिवेश को ही उपन्यास का वातावरण कहा जाता है। ऐतिहासिक या आंचलिक उपन्यासों में तो यह कथावस्तु का प्रधान अंग बन जाता है। शैली और उद्देश्य ऐसे तत्त्व हैं जो प्रत्येक कलाकृति में विद्यमान रहते हैं।

उपन्यास को घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है। जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी तथा साहसिक कथानकवाले उपन्यास घटना-प्रधान होते हैं। मानव-चरित्र की अनंत संभावनाओं के कारण चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विषयों की विविधता भी अनंत हो सकती है। स्थूल रूप से इन्हें ऐतिहासिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तीन प्रकारों में बाँटा जा सकता है। किसी प्रदेश या क्षेत्र-विशेष पर आधृत आंचलिक उपन्यास भी सामाजिक उपन्यासों के अंतर्गत ही आते हैं। कथा-सामग्री के मूल स्रोतों के आधार पर भी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक आदि अनेक भेद उपन्यासों के किए जा सकते हैं। शैली के आधार पर भी उपन्यासों का वर्गीकरण हुआ है।

कहानी

मानव-जीवन के किसी एक पहलू, क्षण, भावना या विचार पर कथा के माध्यम से प्रकाश डालना ही कहानी के मूल में विद्यमान रहता है। कहानी और उपन्यास के तत्त्व तो एक ही हैं पर उपन्यास में जीवन और जगत का जितना विस्तार होता है उतना कहानी में संभव नहीं है। इसी कारण कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा काफी संक्षिप्त होता है और संपूर्ण प्रकृति एवं गठन में भी वह उपन्यास से भिन्न हो जाती है। एकता और प्रभावान्विति की तीव्रता कहानी-कला की विशेषताएँ हैं। कहानी की रचना में उसका आरंभ और अंत दोनों ही बहुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

कहानी-कला के विभिन्न तत्त्वों के आधार पर कहानी के सामान्यत: चार भेद किए जाते हैं—(१) घटना-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) वातावरण-प्रधान एवं (४) भाव-प्रधान। प्रतीकवादी या सांकेतिक कहानियों का एक वर्ग और भी हो सकता है। विषय की दृष्टि से कहानी के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, साहसिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं।

आलोचना

आलोचना का अर्थ है किसी साहित्यिक रचना को पूरी तरह से देखना-परखना। इस प्रकार रचना का प्रत्येक दृष्टि से विश्लेषण और मूल्यांकन कर पाठकों के रसबोध को परिष्कृत करना आलोचना का मुख्य उद्देश्य बन जाता है। आलोचना रचना और

पाठक के मध्य सेतु का कार्य करती है। श्यामसुंदरदास के शब्दों में 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' पाश्चात्य विचारों के अनुसार आलोचक का कर्त्तव्य यह पता लगाना है कि (१) लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और (२) वह उसे अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है ? आलोचना वस्तुत: रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या है।

आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दो मुख्य भेद होते हैं। दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार आलोचना के ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, तुलनात्मक, प्रभावाभिव्यंजक आदि अनेक भेद हो सकते हैं।

व्याख्या, विश्लेषण और मूल्यांकन आलोचन-व्यापार की क्रमिक सीढ़ियाँ हैं। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शन, जीवनी आदि आलोचना की प्रक्रिया में सहायक बनकर आ सकते हैं।

निबंध का अध्ययन

निबंध को समझने और उसका रसास्वादन करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:

१. निबंध की विषयवस्तु।
२. विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का उद्देश्य।
३. निबंध की शैली।

निबंध के लिए स्वीकृत विषयों की कोई सीमा नहीं है। देखना यह चाहिए कि अभिव्यक्त विषय किस प्रकार का है। अर्थात् उसमें किसी बाह्य दृश्य आदि का चित्रण है अथवा किसी घटना, पात्र आदि का वर्णन, किसी मनोविकार आदि का निरूपण-विश्लेषण हुआ है या किसी प्रसंग का भावात्मक अंकनमात्र।

इसके पश्चात उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिए। लेखक कभी कुछ तथ्यों, दृश्यों या व्यापारों का विवरण देकर पाठक का ज्ञानवर्द्धन-मात्र करना चाहता है तो कभी वह उसे किसी दृश्य या अतीत की स्मृति में भावात्मक शैली से रमाना चाहता है। कभी वह पाठकों को कुछ प्रेरणा देना चाहता है तो कभी किसी सीख या निष्कर्ष तक ले चलना उसका ध्येय होता है। इस प्रकार विषयवस्तु और उद्देश्य निबंध को समझने में एक बड़ी सीमा तक सहायक होते हैं।

निबंध में लेखक का दृष्टिकोण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वस्तुत: इसी आधार-भूमि पर अवस्थित होकर निबंध के विवरणों का सर्वेक्षण किया जाता है। अत: निबंध में जो मूल्य, तथ्य, आवेग-संवेग, स्मृतियाँ अथवा पूर्वाग्रह आते हैं, वे इसी पर आश्रित होते हैं और इसी के द्वारा उन्हें जाना जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल ने जिन संस्मरणों का संकेत अपने विचारप्रधान निबंधों में किया है वे उनके विषय-संबंधी दृष्टिकोण को ही सूचित करते हैं। निबंध में आत्मपरकता का समावेश इसी उपकरण द्वारा होता है।

निबंध में कलात्मक एकान्विति का रहना आवश्यक है। लेखक विचारों की स्थापना में किसी विचार या भाव पर विशेष बल देता है, पारस्परिक तुलना और विरोध व्यक्त करता है और नाटकीय परिवर्तन द्वारा विचार-धारा को अभीप्सित दिशा में मोड़ने की चेष्टा करता है। निबंध की समीक्षा में इन तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिए।

निबंधकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली में निहित होता है। निबंध को समझने और सराहने के लिए मुख्य रूप से यह देखना होगा कि विषयवस्तु को अभिप्रेत उद्देश्य के लिए किस ढंग से प्रयुक्त किया गया है। किसी भी विषय के संबंध में अनेक छोटे-बड़े विवरण हो सकते हैं। लेखक अपने उद्देश्य के लिए उनमें से आवश्यक का चयन कर लेता है। अत: निबंध के अर्थबोध के लिए चयन और नियोजन को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भाषा के विविध स्तर भी मूल आशय का प्रतिपादन करने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ व्यंग्य करते समय रामचंद्र शुक्ल तद्भव शब्दावली एवं उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा गंभीर विचारों के लिए तत्सम पदावली का। भाषा की प्रांजलता और समृद्धि केवल शब्दचयन पर ही निर्भर नहीं है, विचारों को सुस्पष्ट वाक्यों और स्वाभाविक शैली में उपस्थित करना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए टकसाली शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का समीचीन प्रयोग निबंध को अर्थवत्ता प्रदान करता है। निबंध में गृहीत बिम्बों, उदाहरणों एवं संदर्भों को भी प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध करके देखना चाहिए।

संक्षेप में निबंध एक कलाकृति है जो पाठक के मन में आनंद की अनुभूति उत्पन्न करने में उसी प्रकार समर्थ होती है जिस प्रकार कविता, कहानी, नाटक आदि अन्य विधाएँ। इसी रूप में उसका अध्ययन करना चाहिए।

शिक्षण की दृष्टि से प्रस्तावित क्रम

गद्य-संकलन के इस भाग में काल-क्रम की दृष्टि से पाठों को रखा गया है। स्थानीय विशेषताओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप अध्यापकों को इस क्रम में परिवर्तन कर लेना चाहिए।

प्रस्तावित क्रम

१. प्रार्थना	विनोबा भावे
२. जेल में जीव-जंतु	जवाहरलाल नेहरू
३. शेर का शिकार	वृंदावनलाल वर्मा
४. पंच-परमेश्वर	प्रेमचंद
५. सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष	चतुरसेन शास्त्री
६. दरिद्रनारायण	राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह
७. भारत का एक ब्राह्मण	जयशंकर प्रसाद
८. राष्ट्र का स्वरूप	वासुदेवशरण अग्रवाल
९. एक जन्मजात चक्रवर्ती	जगदीशचंद्र माथुर
१०. श्री सत्यनारायण कविरत्न	पद्मसिंह शर्मा
११. बेचारा भला आदमी	हरिशंकर परसाई
१२. अहिंसा की पुण्यभूमि	काका कालेलकर
१३. घर और बाहर	महादेवी वर्मा
१४. कवि-चर्चा	सियारामशरण गुप्त
१५. हमारे साहित्य की विशेषताएँ	श्यामसुंदर दास
१६. मजदूरी और प्रेम	पूर्ण सिंह
१७. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता	नगेन्द्र
१८. नई संस्कृति की ओर	रामवृक्ष बेनीपुरी
१९. उत्साह	रामचंद्र शुक्ल

गद्य-संकलन

श्यामसुंदर दास

बाबू श्यामसुंदरदास का जन्म वाराणसी (उत्तरप्रदेश) में सन् १८७५ ई० में हुआ था। इनकी मृत्यु सन् १९४५ ई० में हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी०ए० की उपाधि प्राप्त कर इन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल, वाराणसी में अंग्रेजी के अध्यापक-रूप में कार्य प्रारंभ किया। यद्यपि ये अंग्रेजी भाषा के कुशल अध्यापक थे,फिर भी इनकी रुचि प्रारंभ से ही हिन्दी भाषा और साहित्य-सेवा की ओर थी। इन्होंने अनुभव किया कि हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करने की अत्यंत आवश्यकता है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए इन्होंने कुछ हिन्दी-प्रेमी मित्रों के सहयोग से सन् १८९३ ई० में 'काशी नागरी-प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। जब हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग खुला तो महामना मालवीय जी ने उसकी अध्यक्षता के लिए इन्हें साग्रह निमंत्रित किया। वहाँ इन्होंने विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम का आयोजन किया और जीवनभर हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास एवं प्रसार में संलग्न रहे।

बाबू जी के ग्रंथों में 'भाषाविज्ञान', 'साहित्यालोचन', 'हिन्दी-भाषा और साहित्य', 'रूपक रहस्य', 'भाषा रहस्य', 'गोस्वामी तुलसीदास' विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों का महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि आज तक उच्चतम कक्षाओं के पाठ्यक्रम में इनका स्थान है। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का संपादन भी किया। हिन्दी भाषा में अनुसंधान-कार्य का श्रीगणेश भी इन्हीं के द्वारा हुआ। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी शब्द-सागर' का संपादन इन्हीं के निर्देश में हुआ।

श्यामसुंदरदास जी की भाषा पुष्ट एवं प्रांजल है और उसका झुकाव तत्सम शब्दों की ओर है। शैली में दुरूहता नहीं मिलती; सर्वत्र एक स्वच्छ वाग्धारा प्रवाहित रहती है। विषय का समयक् प्रतिपादन ही लेखक का मुख्य ध्येय रहता है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने भारतीय साहित्य के मूल में विद्यमान समन्वय की भावना पर विचार व्यक्त किए हैं। समन्वय का तात्पर्य है विरोधी एवं विपरीत भावों का समीकरण। भारतीयों का ध्येय जीवन का आदर्श रूप उपस्थित करना रहा है। हमारा दर्शन भी समन्वयवादी है; उसी का प्रभाव हमारे साहित्य और कला पर पड़ा है।

श्यामसुंदर दास

हमारे साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसीके बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वयं प्रसिद्ध हैं तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं; पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ यूरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसीलिए नहीं दीख पड़ते हैं। यदि आजकल दो-चार नाटक ऐसे दीख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और यूरोपीय आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए, यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

'भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है,
विनती सुने सानंद हेरि हँसी करुनावारि भूमि भिजई है।

रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत विजई है,
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत-सेन हारत जितई है॥'

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अनुभूत आनंद की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिन्दी-साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था, परंतु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी-कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है; परंतु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं, तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान की मूर्ति उस समय की है, जब वे छह महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थि-पंजरमात्र ही रहे होंगे, पर मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उनके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा और जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वयवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति

है ; अतः केवल अध्यात्म-पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भाव तथा विचारों का विस्तार अधिक नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गंभीर ऋचाओं तक से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परंतु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई ; परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित-सी हो गई है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है ; परंतु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोष रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं ; एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा 'कृष्ण' का आधार लेकर की गई हिन्दी की शृंगारी कविताओं के रूप में। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और 'नीति के दोहों'

की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है, क्योंकि नीरस पदावली में, कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्‌गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला, वह समाज के लिए हितकर न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्‌भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासनामूलक प्रेम में परिणत हो गया था।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश की जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंग्लैंड तथा आयरलैंड-जैसे जलावृत्त द्वीप हैं तो चीन-जैसा विस्तृत भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से जो संबंध होता है उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य मात्र के लिए आर्कषक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़-से लंबे-लंबे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता

की कल्पना कर लेते हैं, परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंत-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं, उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौन्दर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुंदर गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है, वे हरे-भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौन्दर्यज्ञान उच्चकोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि; अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है, वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क हैं। काव्य-जगत में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता; अत: कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर, व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृति संबंधी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है, परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचार-धारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी

कवि हुए हैं, परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदय-ग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इसके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संघटन अथवा छंद-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं; परंतु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में उत्तम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अंग्रेजी में इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए हैं, परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है। केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति-काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य-रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर-मात्रिक अथवा लघु-मात्रिक छंद-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो

सकता है; परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नहीं है, जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं दीख पड़ती; क्योंकि ये सब बातें थोड़े-बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. समन्वयवाद का आशय स्पष्ट कीजिए।
२. देश की प्राकृतिक रमणीयता ने भारतीय साहित्य को किस प्रकार प्रभावित किया है ?
३. इस पाठ के आधार पर भारतीय साहित्य की विशेषताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
४. निम्नलिखित शब्दों का वाक्यों में प्रयोग कीजिए :
संभाव्य, अक्षुण्ण, प्रत्युत, अवसान, कुंठित, अवहेलना।
५. अधोलिखित शब्दों का संधि-विच्छेद कीजिए :
उपर्युक्त, तदनुसार, मनोवृत्ति, अत्यधिक, तल्लीनता।
६. नीचे कुछ विशेषण शब्द 'जन्य', 'मूलक', 'गत' आदि लगाकर बनाए गए हैं। प्रत्येक प्रकार के दो-दो उदाहरण और दीजिए :
शरीरजन्य, वासनामूलक, देशगत, निसर्गसिद्धि, उत्तरकालीन, भावमग्न, अंधकारमय, समीपवर्त्ती।
७. निम्नांकित अवतरण की स्पष्ट व्याख्या कीजिए :
"साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है।"

पद्मसिंह शर्मा

पंडित पद्मसिंह शर्मा का जन्म जिला बिजनौर (उत्तर प्रदेश) में सन् १८७६ ई० में हुआ था। सन् १९३२ ई० में इनके गाँव नायक नगला में प्लेग की बीमारी फैली और वहीं जनता की सेवा करते हुए इनकी मृत्यु हुई। संस्कृत भाषा का इन्होंने विशेष रूप से अध्ययन किया था। उर्दू, फारसी, बंगला और मराठी भाषाओं के भी ये अच्छे जानकार थे। इन्होंने गुरुकुल कांगड़ी तथा महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापनकार्य किया। ये स्वभाव से बड़े ही विनोदी, हँसमुख तथा भावुक थे।

'बिहारी-सतसई की भूमिका' और 'बिहारी-सतसई संजीवन-भाष्य' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'संजीवन-भाष्य' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान कर इनका सम्मान किया था। शर्मा जी के कुछ निबंध 'पद्म पराग' (भाग १) नामक संग्रह में संकलित हैं। इनकी 'हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी' नामक पुस्तक से भाषा-समस्या पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

द्विवेदी-युग के गद्य-लेखकों और समालोचकों में शर्मा जी का विशेष स्थान है। प्रतिपाद्य विषय को शब्दों द्वारा मूर्त्त तथा सजीव रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता इनके निबंधों की प्रमुख विशेषता है। आलोचनात्मक निबंधों में इनकी भाषा चटकीली तथा व्यंगात्मक है। संस्मरणात्मक लेखों में शैली सजीव, सरस तथा भावावेशमयी रहती है।

इस निबंध में शर्मा जी ने सत्यनारायण कविरत्न से अपने प्रथम साक्षात्कार का वर्णन तथा उनके सरल व्यक्तित्व का भावपूर्ण शब्दों में अंकन किया है। भाषा सरल और प्रवाहमयी है। सत्यनारायण कविरत्न की बाह्य वेश-भूषा, आकृति और मुद्रा के साथ उनकी अंत:प्रकृति के भी मार्मिक चित्रण में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है।

पद्मसिंह शर्मा

श्री सत्यनारायण कविरत्न

श्री सत्यनारायण सरलता की, विनय की मूर्ति, स्नेह की प्रतिमा और सज्जनता के अवतार थे। जो उनसे एक बार मिला, वह उन्हें फिर कभी न भूला। मुझे वह दिन और वह दृश्य अब तक याद है। सन् १९१५ ई० में, उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ था। पंडित मुकुंदराम जी का तार पाकर वह ज्वालापुर आए थे। मैं उन दिनों वहीं महाविद्यालय में था। वह स्टेशन से सीधे (प० मुकुंदराम के साथ) पहले मेरे पास पहुँचे। मैं पढ़ा रहा था। इससे पूर्व कभी देखा न था, आने की सूचना भी न थी। सहसा एक सौम्य मूर्ति को विनीत भाव से सामने उपस्थित देखकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। दुपल्लू टोपी, वृंदावनी बगलबंदी, घुटनों तक धोती, गले में अँगोछा। यह वेशभूषा थी। आँखों से स्नेह बरस रहा था। भीतर की स्वच्छता और सदाशयता मुस्कराहट के रूप में चेहरे पर झलक रही थी। मैं समझ गया कि हो-न-हो यह सत्यनारायण जी हैं; पर फिर भी परिचय-प्रदान के लिए पं० मुकुंदरामजी को इशारा कर ही रहा था कि आपने तुरंत अपना यह मौखिक 'विजिटिंग कार्ड' हृदयहारी टोन में स्वयं पढ़ सुनाया—

नवल-नागरी-नेह-रत, रसिकन ढिंग बिसराम।
आयौ हौं तुव दरस कौं, सत्यनारायन नाम॥

यह पहली मुलाकात थी। इस मौके पर शायद दो दिन सत्यनारायण जी ज्वालापुर ठहरे थे। उनके मुख से कविता-पाठ सुनने का अवसर भी पहली बार तभी मिला था।

सत्यनारायणजी से मेरी अंतिम भेंट दिसंबर १९१७ ई० में हुई थी, जब वह 'मालतीमाधव' का अनुवाद समाप्त करके हम लोगों को—मुझे और साहित्याचार्य श्री पंडित शालग्रामजी शास्त्री को—सुनाने के लिए ज्वालापुर पधारे थे। परामर्शानुसार अनुवाद की पुनरालोचना करके छपाने से पहले एक बार फिर दिखाने को कह गए थे, पर फिर न मिल सके। उनके जीवन-काल में दो बार मैं धाँधूपुर भी उनसे मिलने गया था। एक

बार की यात्रा में श्री शालग्रामजी साहित्याचार्य भी साथ थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी दो-तीन बार मैं धाँधूपुर गया हूँ और सत्यनारायण की याद में जी खोलकर रो आया हूँ। अब भी जब उनकी याद आती है, जी भर आता है। एक प्रोग्राम बनाया था कि दो-चार ब्रजभाषा-प्रेमी मित्र मिलकर छह महीने ब्रज में घूमें, ब्रज की रज में लोटें, गाँवों में रहकर जीवित ब्रजभाषा का अध्ययन करें, ब्रजभाषा के प्राचीन ग्रंथों की खोज करें, ब्रजभाषा का एक अच्छा प्रामाणिक कोश तैयार करें। ऐसी बहुत-सी बातें सोची थीं, जो उनके साथ गईं और हमारे जी में रह गईं। अफसोस !

'ख्वाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफसाना था।'

सत्यनारायणजी के कविता-पाठ का ढंग बड़ा ही मधुर और मनोहारी था। सहृदय भावुक तो बस सुनकर बेसुध से हो जाते थे, वह स्वयं भी पढ़ते समय भावावेश की-सी मस्ती में झूमने लगते थे। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली और सत्यनारायणजी का कोकिल कंठ, सोने-सुगंध का योग और मणि-कांचन का संयोग था। पाठ्यमान—गीयमान—विषय का आँखों के सामने चित्र-सा खिंच जाता था और वह हृदय-पट पर अंकित हो जाता था। सुनते-सुनते तृप्ति न होती थी। कविता सुनाते समय वह इतने तल्लीन हो जाते थे कि थकते न थे। सुनाने का जोश और स्वर-माधुर्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। उच्चारण की विस्पष्टता, स्वर की स्निग्ध गंभीरता, गले की लोच में सोज और साज तो था ही, उसके सिवा एक और बात भी थी, जिसे व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं मिलता।

सत्यनारायणजी के श्रुति-मधुर स्वर में सचमुच मुरलीमनोहर के वंशीरव के समान एक सम्मोहनी शक्ति थी, जो सुननेवालों पर जादू का-सा असर करती थी। सुननेवाले चाहिए, चाहे जब तक सुने जाएँ, उन्हें सुनाने में उज्र न था। एक दिन हम लोग उनसे निरंतर ६-७ घंटे कविता सुनते रहे, फिर भी न वह थके, न हमारा जी भरा।

सत्यनारायण स्वाभाविक सादगी के पुतले थे; गुदड़ी में छिपे लाल थे। उनकी भोली-भाली सूरत, ग्रामीण वेशभूषा, बोलचाल में ठेठ ब्रजभाषा, देख-सुनकर अनुमान तक न हो सकता था कि इस करामाती चोले में इतने अलौकिक गुण छिपे हैं! उनकी सादगी सभा-सोसाइटियों में उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार का कारण बन जाती थी। उनकी जीवनी में ऐसे कई

प्रसंगों का उल्लेख है। इस प्रकार की यह एक घटना उन्होंने स्वयं सुनाई थी :

मथुराजी में स्वामी रामतीर्थ-जी महाराज आए हुए थे। खबर पाकर सत्यनारायणजी भी दर्शन करने पहुँचे। स्वामीजी का व्याख्यान होने को था ; सभा में श्रोताओं की भीड़ थी ; व्याख्यान का नांदीपाठ—मंगलाचरण—हो रहा था, अर्थात कुछ भजनीक भजन अलाप रहे थे। सद्यःकवि लोग अपनी-अपनी ताजी तुकबंदियाँ सुना रहे थे। सत्यनारायणजी के जी में भी उमंग उठी ; यह भी कुछ सुनाने को उठे। व्याख्यान-वेदी की ओर बढ़े, आज्ञा माँगी, पर 'नागरिक' प्रबंधकर्ताओं ने इस 'कोरे सत्य, ग्राम के वासी' को रास्ते में ही रोक दिया ! दैवयोग से उपस्थित सज्जनों में कोई इन्हें पहचानते थे। उन्होंने कह-सुनकर किसी तरह पाँच मिनट का समय दिला दिया। वेदी के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण-भक्ति के दो सवैये इन्होंने अपने खास ढंग में इस प्रकार पढ़े कि सभा में सन्नाटा छा गया ; भावुक-शिरोमणि श्री स्वामी रामतीर्थजी सुनकर मस्ती में झूमने लगे। पाँच मिनट का नियत समय समाप्त होने पर जब यह बैठने लगे तब स्वामीजी ने आग्रह और प्रेम से कहा कि अभी नहीं, कुछ और सुनाओ। यह सुनाते गए और स्वामी-जी अभी और, अभी और, कहते गए ; व्याख्यान सुनाना भूलकर कविता सुनने में मग्न हो गए। पाँच मिनट की जगह पूरे पौन घंटे तक कविता-पाठ जारी रहा। मथुरा की भूमि, ब्रजभाषा में श्रीकृष्णचरित की कविता, भावुक भक्त-शिरोमणि स्वामी रामतीर्थ का दरबार, इन्हें और क्या चाहिए था ! सुंदर सुयोग पाकर रस-वृष्टि से सबको सराबोर कर दिया ; यमुना-तट पर ब्रजभाषा-सुरसरि की हिलोर में सबको डुबो दिया। कहा करते थे, वैसा आनंद कविता-पाठ में फिर कभी नहीं आया। हिन्दी-साहित्य की निःस्वार्थ सेवा और ब्रजभाषा की कविता का प्रचार, लोकरुचि को उसकी ओर आकृष्ट करना, ब्रज-कोकिल सत्यनारायण के जीवन का मुख्य उद्देश्य था।

स्वामी रामतीर्थजी के वे इसलिए भी अनन्य भक्त थे कि उन्हें 'ब्रजभाषा-भक्त, भक्ति-रस रुचिर रसायन' समझते थे। अपने समय के महापुरुषों में सबसे अधिक भक्ति उनकी स्वामी रामतीर्थजी ही में थी। स्वामीजी भी सत्यनारायणजी के गुणों पर मुग्ध थे। उन्हें अपने साथ अमेरिका ले जाने के लिए बहुत आग्रह करते रहे, पर सत्यनारायणजी अपने गुरु की बीमारी

के कारण न जा सके, और इसका सत्यनारायणजी को सदा पश्चात्ताप रहा। सत्यनारायण मनसा, वाचा, कर्मणा हिन्दी के सच्चे उपासक थे; और अपनी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार और भाव-भाषा से प्राचीन भारतीयता के पूरे प्रतिनिधि थे। बी० ए० तक अंग्रेजी पढ़कर और अंग्रेजी के विद्वानों की संगति में रात-दिन रहकर भी वह अंग्रेजी से बचते थे। अनावश्यक अंग्रेजी बोलने का हमारे नवशिक्षितों को कुछ दुर्व्यसन-सा हो गया है। इनकी हिन्दी में भी तीन-तिहाई अंग्रेजी का पुट रहता है। सत्य-नारायण इस व्यापक दुर्व्यसन का एक अपवाद थे।

सत्यनारायणजी ने समय अनुकूल न पाया। यह तो दलबंदी का जमाना है, विज्ञापनबाजी का युग है, सब प्रकार की सफलता 'प्रोपेगंडा' पर निर्भर है। जिसे इन साधनों का सहारा मिला, वह गुब्बारा बनकर ख्याति के आकाश में चमक गया। गरीब सत्यनारायण को कोई भी ऐसा साधन उपलब्ध न था। सत्यनारायण के सद्गुणों का पूर्ण परिचय अभी संसार को प्राप्त नहीं हुआ था। नंदन-कानन का यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोंकों ने झुलस दिया। ब्रज-कोकिल ने पंचम में आलाप भरना प्रारंभ ही किया था कि निर्दय काल-व्याध ने गला दबा दिया! 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया। संसार में समय-समय पर और भी ऐसी दुर्घटनाएँ हुई हैं पर सत्यनारायण का इस प्रकार आकस्मिक वियोग भारत-भारती हिन्दी भाषा का परम दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

सत्यनारायण की जीवनी में उनके सार्वजनिक जीवन पर, उनकी साहित्य-सेवा और व्यक्तित्व पर, अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार किया है, और खूब किया है, कोई बात बाकी नहीं छोड़ी। सत्य-नारायण की जीवनी करुण रस का एक दुःखांत महानाटक है। जिस प्रतिकूल परिस्थिति में उन्हें जीवन बिताना पड़ा और फिर जिस प्रकार उन्हें 'अनचाहत को संग' के हाथों तंग आकर समय से पहले ही संसार से कूच करने के लिए विवश होना पड़ा, उसका हाल पढ़-सुनकर किसी भी सहृदय को उनकी भाग्यहीनता पर दुःख और समवेदना हो सकती है।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक ने सत्यनारायणजी को 'स्नेह की प्रतिमा' कहा है। इस पाठ से सत्यनारायणजी के कुछ अन्य विशेषण चुनिए और उनके आधार पर उनकी कुछ विशेषताएँ बताइए।

२. सत्यनारायणजी 'व्रज-कोकिल' क्यों कहलाते थे ?

३. इस पाठ के आधार पर पद्मसिंह शर्मा की गद्य-शैली पर प्रकाश डालिए।

४. अधोलिखित शब्दों का, प्रयोग के द्वारा, अर्थ स्पष्ट कीजिए:
साक्षात्कार, प्रामाणिक, भावावेश, स्निग्ध, अपवाद।

५. स्वरचित वाक्यों के द्वारा निम्नलिखित प्रयोगों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:
मणिकांचन संयोग, गुदड़ी के लाल, नांदीपाठ।

६. नीचे दिए उद्धरणों का भावार्थ स्पष्ट कीजिए:

(क) 'सत्यनारायण की जीवनी करुण-रस का एक दुःखांत महानाटक है।'

(ख) 'नंदन-कानन का यह पारिजात अभी खिलने भी न पाया था कि संसार की विषैली वायु के झोंकों ने झुलस दिया। व्रज-कोकिल ने पंचम में आलाप भरना प्रारंभ ही किया था कि निर्दय काल-व्याध ने गला दबा दिया। 'भारतीय आत्मा' कृष्ण को पुकारती ही रह गई और कोकिल उड़ गया।'

प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद का जन्म सन् १८८० ई० में वाराणसी जिले के लमही ग्राम में हुआ था। ये साहित्य में प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध हैं पर इनका वास्तविक नाम धनपतराय था। शिक्षा-काल में इन्होंने अंग्रेजी के साथ उर्दू का ही अध्ययन किया था। प्रारंभ में ये कुछ वर्षों तक स्कूल में अध्यापक रहे; और फिर शिक्षा विभाग में सब-डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। कुछ दिनों बाद असहयोग आंदोलन से सहानुभूति रखने के कारण इन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और आजीवन साहित्य-सेवा करते रहे। इनकी मृत्यु सन् १९३६ ई० में हुई।

प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन', 'निर्मला', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गबन' और 'गोदान' हैं। इनकी कहानियों का विशाल संग्रह अनेक भागों में 'मानसरोवर' नाम से प्रकाशित है, जिसमें लगभग तीन सौ कहानियाँ संकलित हैं। 'कर्बला', 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी' इनके नाटक हैं। साहित्यिक निबंध 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

प्रेमचंद का साहित्य समाजसुधार और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित है। वह अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें किसानों की दशा, सामाजिक बंधनों में तड़पती नारियों की वेदना और वर्णव्यवस्था की कठोरता के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। सामयिकता के साथ ही इनके साहित्य में ऐसे तत्त्व भी विद्यमान हैं जो उसे शाश्वत और स्थायी बनाते हैं। प्रेमचंद अपने युग के उन सिद्ध कलाकारों में थे जिन्होंने हिन्दी को नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाया।

इनकी भाषा में उर्दू की स्वच्छता, गति और मुहावरों के प्रयोग के साथ संस्कृत की भावमयी स्निग्ध पदावली का सुंदर संयोग है। कथा-साहित्य के लिए यह भाषा आदर्श है।
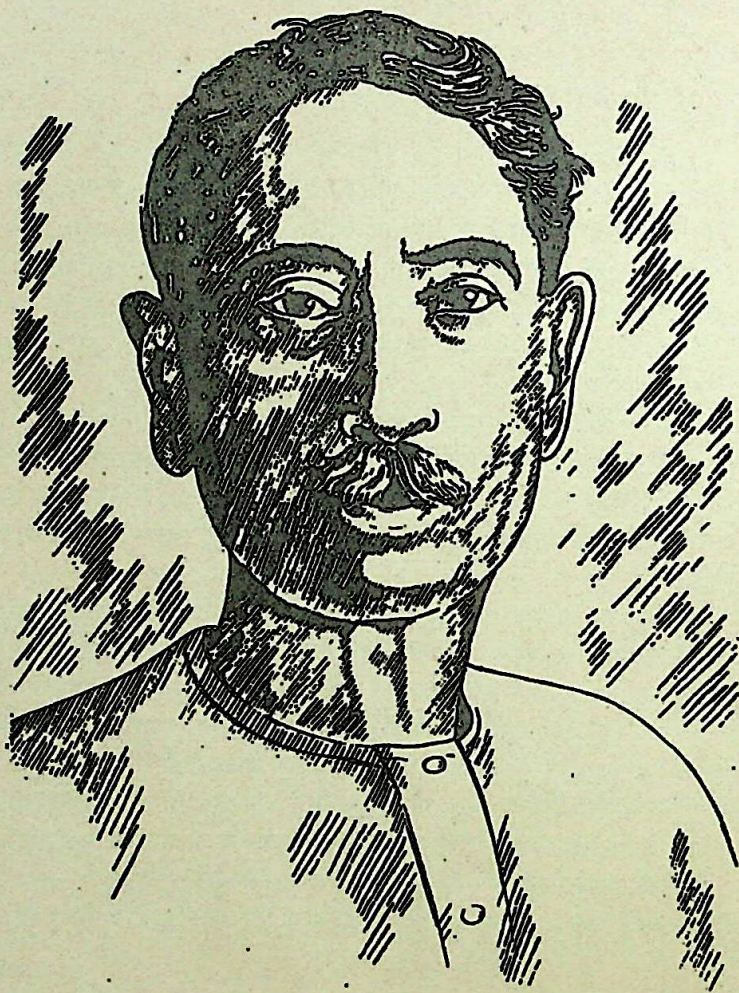
प्रेमचंद

पंच-परमेश्वर

जुम्मन शेख और अलगू चौधरी में गाढ़ी मित्रता थी, साझे में खेती होती थी, लेन-देन में भी कुछ साझा था। एक को दूसरे पर अटल विश्वास था। जुम्मन जब हज करने को गए थे, तब अपना घर अलगू को सौंप गए थे और अलगू जब कभी बाहर जाते तब जुम्मन पर अपना घर छोड़ जाते थे। उनमें न खान-पान का व्यवहार था, न धर्म का नाता, केवल विचार मिलते थे। मित्रता का मूल-मंत्र भी यही है।

इस मित्रता का जन्म उसी समय हुआ, जब दोनों मित्र बालक ही थे और जुम्मन के पूज्य पिता जुमराती उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। अलगू ने गुरुजी की बहुत सेवा की, खूब रिकाबियाँ माँजी, खूब प्याले धोए। उनका हुक्का एक क्षण के लिए भी विश्राम न लेने पाता था, क्योंकि प्रत्येक चिलम अलगू को आध घंटे तक किताबों से अलग कर देती थी। अलगू के पिता पुराने विचारों के मनुष्य थे। उन्हें शिक्षा की अपेक्षा गुरु की सेवा-सुश्रूषा पर अधिक विश्वास था। कहते थे कि विद्या पढ़ने से नहीं आती, जो कुछ होता है, गुरु के आशीर्वाद से। बस, गुरुजी की कृपा-दृष्टि चाहिए। अतएव, यदि अलगू पर जुमराती शेख के आशीर्वाद अथवा सत्संग का कुछ फल न हुआ, तो यह मानकर संतोष कर लूँगा कि विद्योपार्जन में मैंने यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखी। विद्या उसके भाग्य में न थी, तो कैसे आती।

जुम्मन शेख की एक बूढ़ी खाला (मौसी) थी। उसके पास कुछ थोड़ी-सी मिलकियत थी, परन्तु उसके निकट संबंधियों में कोई न था। जुम्मन ने लंबे-चौड़े वायदे करकें वह मिलकियत अपने नाम लिखवा ली थी। जब तक दान-पत्र की रजिस्ट्री न हुई थी, तब तक खालाजान का खूब आदर-सत्कार किया गया। उसे खूब स्वादिष्ट पदार्थ खिलाए गए। हलवे-पुलाव की वर्षा-सी की गई। पर रजिस्ट्री की मुहर ने इन खातिंरदारियों पर भी मानो मुहर लगा दी। जुम्मन की पत्नी—करीमन, रोटियों के साथ कड़वी बातों के कुछ तीखे सालन भी देने लगी। जुम्मन शेख भी निठुर हो गए। अब बेचारी खालाजान को प्रायः नित्य ही ऐसी-ऐसी बातें सुननी पड़ती

थीं । 'बुढ़िया, न जाने, कब तक जिएगी । दो-तीन बीघे ऊसर क्या दे दिया, मानो मोल ले लिया है । बघारी दाल के बिना रोटियाँ नहीं उतरतीं । जितने रुपए इसके पेट में झोंके जा चुके, उतने से तो अब तक एक गाँव मोल ले लेते ।'

कुछ दिन खालाजान ने यह सब सुना और सहा, पर जब न सहा गया, तब जुम्मन से शिकायत की । जुम्मन ने स्थानीय कर्मचारी—गृह-स्वामिनी—के प्रबंध में दखल देना उचित न समझा । कुछ दिन तक और यों ही रो-धोकर काम चलता रहा । अंत में, एक दिन खाला ने जुम्मन से कहा—बेटा, तुम्हारे साथ मेरा निबाह न होगा, तुम मुझे रुपए दे दिया करो, मैं अपना अलग खा-पका लूँगी ।

जुम्मन ने धृष्टता के साथ उत्तर दिया—रुपए क्या यहाँ फलते हैं ? खाला ने नम्रता से कहा—मुझे रूखा-सूखा चाहिए भी नहीं ? जुम्मन ने गंभीर स्वर से जवाब दिया—तो कोई यह थोड़े ही समझा था कि तुम मौत से लड़कर आई हो ?

खाला बिगड़ गईं । उसने पंचायत करने की धमकी दी । जुम्मन हँसे, जिस तरह कोई शिकारी हिरण को जाल की तरफ जाते देखकर मन-ही-मन हँसता है । वे बोले—हाँ, पंचायत करो । फैसला हो जाए । मुझे भी यह रात-दिन की खटपट पसंद नहीं ।

पंचायत में किसकी जीत होगी, इस विषय में जुम्मन को कुछ भी संदेह न था । आस-पास के गाँवों में ऐसा कौन था, जो उसके अनुग्रहों का ऋणी न हो ? ऐसा कौन था, जो उसको शत्रु बनाने का साहस कर सके ? किसमें इतना बल था, जो उसका सामना कर सके ? आसमान के फरिश्ते तो पंचायत करने आवेंगे नहीं ।

इसके बाद कई दिनों तक बूढ़ी खाला, हाथ में एक लकड़ी लिए, आस-पास के गाँवों में दौड़ती रही । कमर झुककर कमान हो गई थी । एक-एक पग चलना दूभर था । मगर बात आ पड़ी थी, उसका निर्णय करना जरूरी था ।

कोई बिरले ही भला आदमी होगा, जिसके सामने बुढ़िया ने दु:ख के आँसू न बहाए हों । किसी ने तो यों ही, ऊपरी मन से हाँ-हाँ करके टाल दिया और किसी ने इस अन्याय पर जमाने को गालियाँ दीं । कहा—कब्र में पाँव लटके हुए हैं । आज मरे या कल, पर हवस नहीं मानती । अब तुम्हें क्या चाहिए ? रोटी खाओ और अल्लाह का नाम लो । तुम्हें अब खेती-बारी

से क्या काम ? कुछ ऐसे सज्जन भी थे, जिन्हें हास्य के रसास्वादन का अच्छा अवसर मिला। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, सन के-से बाल। जब इतनी सामग्री एकत्र हों, तब हँसी क्यों न आवे ? ऐसे न्यायप्रिय, दयालु, दीनवत्सल पुरुष कम थे, जिन्होंने उस अबला के दुखड़े को गौर से सुना और उसको सान्त्वना दी हो। चारों ओर से घूम-घामकर बेचारी अलगू चौधरी के पास आई। लाठी पटक दी और दम लेकर बोली—बेटा, तुम भी दम भर के लिए मेरी पंचायत में चले आना।

अलगू—मुझे बुलाकर क्या करोगी ? कई गाँवों के आदमी तो आवेंगे ही।

खाला—अपनी विपदा तो सबके आगे रो आई। अब आने, न आने का अख्तियार उनको है।

अलगू—यों आने को मैं आ जाऊँगा, मगर पंचायत में मुँह न खोलूँगा।

खाला—क्यों बेटा ?

अलगू—अब इसका क्या जवाब दूँ ? अपनी खुशी। जुम्मन मेरा पुराना मित्र है। उससे बिगाड़ नहीं कर सकता।

खाला—बेटा, क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे ?

हमारे सोये हुए धर्म-ज्ञान की सारी संपत्ति लुट जाए, तो उसे खबर नहीं होती, परंतु ललकार सुनकर वह सचेत हो जाता है। फिर उसे कोई जीत नहीं सकता। अलगू इसका कोई उत्तर न दे सके, पर उनके हृदय में ये शब्द जाग रहे थे—क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे ?

संध्या समय एक पेड़ के नीचे पंचायत बैठी। शेख जुम्मन ने पहले से ही फर्श बिछा रखा था। उन्होंने पान, इलायची, हुक्के-तंबाकू आदि का प्रबंध भी किया था। हाँ, स्वयं अलबत्ता अलगू चौधरी के साथ ज़रा दूर पर बैठे हुए थे। जब कोई पंचायत में आ जाता, तब दबे हुए सलाम से उसका स्वागत करते थे। जब सूर्य अस्त हो गया और चिड़ियों की कलरवयुक्त पंचायत पेड़ों पर बैठी, तब यहाँ भी पंचायत शुरू हुई। फर्श की एक-एक अँगुल जमीन भर गई, पर अधिकांश दर्शक ही थे। निमंत्रित महाशयों में तो केवल वे ही लोग पधारे थे, जिन्हें जुम्मन से अपनी कुछ कसर निकालनी थी। एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़-तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ

निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कुछ आपस में गाली-गलौज करते और कुछ रोते थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झुंड-झुंड जमा हो गए थे।

पंच लोग बैठ गए, तो बूढ़ी खाला ने उनसे अब बिनती की—पंचो, आज तीन साल हुए, मैंने अपनी सारी जायदाद अपने भानजे जुम्मन के नाम लिख दी थी। इसे आप लोग जानते ही होंगे। जुम्मन ने मुझे आजीवन रोटी-कपड़ा देना कबूल किया था। सालभर तो मैंने इसके साथ रो-धोकर काटा, पर अब रात-दिन का रोना नहीं सहा जाता। मुझे न पेट की रोटी मिलती है और न तन का कपड़ा। बेकस बेवा हूँ। कचहरी-दरबार नहीं कर सकती। तुम्हारे सिवा और किसे अपना दुःख सुनाऊँ? तुम लोग जो राह निकाल दो, उसी राह पर चलूँ। अगर मुझमें कोई ऐब देखो, तो मेरे मुँह पर थप्पड़ मारो। जुम्मन में बुराई देखो, उसे समझाओ, क्यों एक बेकस की आह लेता है? मैं पंचों का हुक्म सिर-माथे पर चढ़ाऊँगी।

रामधन मिश्र, जिनके कई असामियों को जुम्मन ने अपने गाँव में बसा लिया था, बोले—जुम्मन मियाँ, किसे पंच बदते हो? अभी से इसका निपटारा कर लो। फिर जो कुछ पंच कहेंगे, वही मानना पड़ेगा।

जुम्मन को इस समय सदस्यों में विशेषकर वही लोग दीख पड़े, जिनसे किसी-न-किसी कारण उनका वैमनस्य था।

जुम्मन बोले—पंच का हुक्म अल्लाह का हुक्म है। खालाजान जिसे बदें, मुझे कोई उज्र नहीं।

खाला ने चिल्लाकर कहा—अरे अल्लाह के बंदे, पंचों का नाम क्यों नहीं बता देते? कुछ मुझे भी तो मालूम हो।

जुम्मन ने क्रोध से कहा—अब इस वक्त मेरा मुँह न खुलवाओ। तुम्हारी बन पड़ी है, जिसे चाहो, पंच बदो।

खालाजान जुम्मन को समझ गई। वह बोली—बेटा, खुदा से डरो। पंच न किसी के दोस्त होते हैं, न किसी के दुश्मन। कैसी बात कहते हो? तुम्हारा और किसी पर विश्वास न हो, तो जाने दो, अलगू चौधरी ही सही, मेरे लिए जैसे रामधन मिश्र, वैसे अलगू।

अलगू इस झमेले में फँसना नहीं चाहते थे। वे कन्नी काटने लगे।

बोले—खाला, तुम जानती हो कि मेरी जुम्मन से गाढ़ी दोस्ती है।

खाला ने गंभीर स्वर से कहा—बेटा, दोस्ती के लिए कोई अपना ईमान नहीं बेचता। पंच के दिल में खुदा बसता है। पंचों के मुँह से जो बात निकलती है, वह खुदा की तरफ से निकलती है।

अलगू चौधरी बोले—शेख जुम्मन! हम और तुम पुराने दोस्त हैं। जब काम पड़ा, तुमने हमारी मदद की है और हम भी, जो कुछ बन पडा, तुम्हारी सेवा करते रहे हैं, मगर इस समय तुम और बूढ़ी खाला, दोनों हमारी निगाहों में बराबर हो। तुमको पंचों से जो अर्ज करनी हो, करो।

जुम्मन को पूरा विश्वास था कि अब बाजी मेरी है। अलगू यह सब दिखावे की बात कर रहा है। अतएव, शांतचित्त होकर बोले—पंचो! तीन साल हुए, खालाजान ने अपनी जायदाद मेरे नाम हिब्बा कर दी थी। मैंने उन्हें उम्रभर खाना-कपड़ा देना कबूल किया था। खुदा गवाह है, आज तक मैंने खालाजान को कोई तकलीफ नहीं दी। मैं उन्हें अपनी माँ के समान समझता हूँ। उनकी खिदमत करना मेरा फर्ज है, मगर औरतों में जरा अनबन रहती है, इसमें मेरा क्या बस? खालाजान मुझसे माहवार खर्च अलग माँगती है। जायदाद कितनी है, वह पंचों से छिपी नहीं। उससे इतना मुनाफा नहीं होता कि मैं माहवार खर्च दे सकूँ। इसके अलावा, हिब्बानामा में माहवार खर्च का कोई जिक्र नहीं। नहीं तो मैं भूलकर भी इस झमेले में न पड़ता। बस मुझे यही कहना है। आईंदा पंचों को अख्तियार है, जो फैसला चाहें, करें।

अलगू चौधरी को हमेशा कचहरी से काम पड़ता था। अतएव, वे पूरा कानूनी आदमी थे। उन्होंने जुम्मन से जिरह शुरू की। एक-एक प्रश्न जुम्मन के हृदय पर हथौड़े की चोट की तरह पड़ता था। रामधन मिश्र इन प्रश्नों पर मुग्ध हुए जाते थे। जुम्मन चकित थे कि अलगू को क्या हो गया है। अभी यही अलगू मेरे साथ बैठा हुआ कैसी-कैसी बातें कर रहा था। इतनी ही देर में ऐसी काया-पलट हो गई कि मेरी जड़ खोदने पर तुला हुआ है। न मालूम, कब की कसर निकाल रहा है। क्या इतने दिनों की दोस्ती कुछ भी काम न आवेगी?

जुम्मन शेख इसी संकल्प-विकल्प में पड़े हुए थे कि इतने में अलगू ने फैसला सुनाया—जुम्मन शेख! पंचों ने इस मामले पर विचार किया है।

उन्हें यह नीतिसंगत मालूम होता है कि खालाजान को माहवार खर्च दिया जाए। हमारा विचार है कि खाला की जायदाद से इतना मुनाफा अवश्य होता है कि माहवार खर्च दिया जा सके। बस, यही हमारा फैसला है। अगर जुम्मन को खर्च देना मंजूर न हो, तो हिब्बानामा रद्द समझा जाए।

यह फैसला सुनते ही जुम्मन सन्नाटे में आ गए। जो अपना मित्र हो, वही शत्रु का व्यवहार करे और गले पर छुरी फेरे। इसे समय के फेर के सिवा और क्या कहें? जिस पर पूरा भरोसा था, उसने समय पड़ने पर धोखा दिया। ऐसे ही अवसरों पर झूठे-सच्चे मित्रों की परीक्षा हो जाती है। यही कलियुग की दोस्ती है। अगर लोग ऐसे कपटी और धोखेबाज न होते, तो देश में आपत्तियों का प्रकोप क्यों होता? यह हैजा, प्लेग आदि व्याधियाँ इन्हीं दुष्कर्मों के ही तो दंड हैं।

मगर, रामधन मिश्र और अन्य पंच अलगू चौधरी की इस नीति-परायणता की जी खोलकर प्रशंसा कर रहे थे। वे कहते थे, इसी का नाम पंचायत है। दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। दोस्ती दोस्ती की जगह है, किन्तु धर्म का पालन करना मुख्य है। ऐसे ही सत्यवादियों के बल पृथ्वी ठहरी हुई है, नहीं तो वह कब की रसातल को चली जाती।

इस फैसले ने अलगू और जुम्मन की दोस्ती की जड़ हिला दी। अब ये साथ-साथ बातें करते नहीं दिखाई देते। इतना पुराना मित्रता-रूपी वृक्ष सत्य का एक झोंका भी न सह सका। सचमुच वह बालू की ही जमीन पर खड़ा था।

इनमें अब शिष्टाचार का अधिक व्यवहार होने लगा। एक दूसरे की आवभगत ज्यादा करने लगा। वे मिलते-जुलते थे, मगर उसी तरह, जैसे तलवार से ढाल मिलती हो।

जुम्मन के चित्त में मित्र की कुटिलता आठों पहर खटका करती थी। उसे हर घड़ी यही चिन्ता लगी रहती थी कि किसी तरह बदला लेने का अवसर मिले।

अच्छे कामों की सिद्धि में बड़ी देर लगती है, पर बुरे कामों की सिद्धि में ऐसी बात नहीं होती। जुम्मन को भी बदला लेने का अवसर जल्दी ही मिल गया। पिछले साल अलगू चौधरी बटेसर से बैलों की एक बहुत अच्छी जोड़ी मोल ले आए थे। बैल पछाही जाति के सुंदर और बड़े-बड़े सींगवाले थे।

महीनों तक आस-पास के गाँवों के लोग उनके दर्शन करते रहे। दैवयोग से जुम्मन की पंचायत के एक ही महीने बाद इस जोड़ी का एक बैल मर गया। जुम्मन ने दोस्तों से कहा—यह दगाबाजी की सजा है। इंसान सब्र भले ही कर जाए, पर खुदा नेक-बद सब देखता है। अलगू को संदेह हुआ कि जुम्मन ने बैल को विष दे दिया है। चौधराइन ने भी जुम्मन पर ही इस दुर्घटना का दोषारोपण किया। उसने कहा—जुम्मन ने कुछ कर-करा दिया है। चौधराइन और करीमन में इस विषय में इस विषय पर एक दिन खूब वाद-विवाद हुआ। दोनों देवियों ने शब्द-बाहुल्य की नदी बहा दी। व्यंग, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, उपमा आदि अलंकारों में बातें हुईं। जुम्मन ने किसी तरह शांति स्थापित की। उन्होंने अपनी पत्नी को डपटकर समझा दिया। वे उसे रण-भूमि से हटा ले गए। इधर अलगू चौधरी ने समझाने का काम अपने तर्कपूर्ण सोंटे से लिया।

अब अकेला बैल किस काम का? उसका जोड़ा बहुत ढूँढ़ा गया, पर न मिला। निदान यह सलाह ठहरी कि इसे बेच डालना चाहिए। गाँव में एक समझू साहू थे। वे इक्का गाड़ी हाँकते थे। गाँव से गुड़, घी आदि लादकर मंडी ले जाते, मंडी से तेल, नमक भर लाते और गाँव में बेचते। इस बैल पर उनका मन ललचाया। उन्होंने सोचा—यह बैल हाथ लगे, तो दिन भर में बेखटके तीन खेपें हों। आजकल एक ही खेप के लाले पड़े रहते हैं। बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया, बाल-भौंरी की पहचान कराई, मोल-तोल किया और उसे लाकर द्वार पर बाँध ही दिया। एक महीने में दाम चुकाने का वायदा ठहरा। चौधरी को भी गरज थी। घाटे की परवाह न की।

समझू साहू ने नया बैल पाया, लगे उसे रगेदने। वे दिन में तीन-तीन चार-चार खेपें करने लगे। न चारे की फिक्र की, न पानी, बस खेपों से काम था। मंडी ले गए, वहाँ कुछ सूखा भूसा सामने डाल दिया। बेचारा जानवर, अभी दम भी न ले पाया था कि फिर से जोत दिया। अलगू चौधरी के घर पर था, तो चैन की वंशी बजाता था। बैल राम छठे-छमाहे कभी बहली में जोते जाते थे, तब खूब उछलते-कूदते और कोसों तक दौड़ते जाते थे। वहाँ इनका रातिब था साफ पानी, दली हुई अरहर की दाल और भूसे के साथ खली। और यही नहीं, कभी-कभी घी का स्वाद भी चखने को मिल जाता था। शाम-सवेरे एक आदमी खरहरे करता, और सहलाता था, कहाँ वह

सुख-चैन और कहाँ यह आठों पहर की खपन। महीने भर में ही वह पिस-सा गया। इक्के का जुआ देखते ही उसका लहू सूख जाता था। एक-एक पग चलना दूभर था। हड्डियाँ निकल आई थीं, पर था वह पानीदार, मार बरदाश्त न थी।

एक दिन, चौथी खेप में, साहूजी ने दूना बोझ लादा। दिन भर का थका जानवर, पैर न उठते थे। उस पर साहूजी कोड़े फटकारने लगे। बस, फिर क्या था, बैल कलेजा तोड़कर चला। कुछ दूर दौड़ा और चाहा कि जरा दम ले लें, पर साहूजी को जल्दी घर पहुँचने की फिक्र थी। अतएव उन्होंने कई कोड़े बड़ी निर्दयता से फटकारे। बैल ने एक बार फिर जोर लगाया। पर अबकी बार शक्ति ने जवाब दे दिया। वह धरती पर गिर पड़ा और ऐसा गिरा कि फिर न उठा। साहू ने बहुत पीटा, टाँग पकड़कर खींचा, नथुनों में लकड़ी ठूँस दी, पर कहीं मृतक भी उठ सकता है? तब साहूजी को कुछ शंका हुई। बहुत चीखे-चिल्लाए, पर देहात का रास्ता, बच्चों की आँख की तरह, साँझ होते ही बंद हो जाता है। कोई नजर न आया, आस-पास में कोई गाँव भी न था। मारे क्रोध के उन्होंने मरे बैल पर और दुर्रे लगाए और कोसने लगे—अभागे, तुझे मरना ही था, तो घर पहुँचकर मरता। ससुरा बीच रास्ते में ही मर रहा। अब गाड़ी कौन खींचे? इस तरह साहूजी खूब जले-भुने। कई बोरे गुड़ और कई पीपे घी उन्होंने बेचे थे। दो-ढाई सौ रुपए कमर में बँधे थे। इसके सिवाए गाड़ी पर कई बोरे नमक के थे। अतएव, छोड़कर जा भी न सकते थे। लाचार, बेचारे गाड़ी पर ही लेट गए। वहीं रतजगा करने की ठान ली। चिलम पी, गीत गाया, फिर हुक्का पिया।

इस तरह साहूजी आधी रात तक नींद को बहलाते रहे। अपनी जान में तो वे जागते ही रहे। पर पौ फटते ही जो नींद टूटी और कमर पर जो हाथ रखा, तो थैली गायब। घबराकर इधर-उधर देखा, तो कई कनस्तर भी नदारद। अफसोस में बेचारे ने सिर पीट लिया और पछाड़ खाने लगे। प्रातःकाल रोते-बिलखते घर पहुँचे। सहुआइन ने जब यह बुरी कहानी सुनी, तब पहले रोई, फिर अलगू चौधरी को गालियाँ देने लगीं—निगोड़े ने ऐसा कुलच्छन बैल दिया कि जन्मभर की कमाई लुट गई।

इस घटना को हुए कई महीने बीत गए। अलगू जब अपने बैल के दाम माँगते, तब साहू और सहुआइन, दोनों ही झल्लाए हुए कुत्तों की तरह चिढ़

बैठते और अंड-बंड बकने लगते——वाह, यहाँ तो सारे जन्म की कमाई लुट गई, सत्यानाश हो गया, इन्हें दामों की ही पड़ी है। मुर्दा बैल दिया था, उस पर दाम माँगने चले हैं। आँखों में धूल झोंक दी, सत्यानाशी बैल गले बाँध दिया। हमें निरा पोंगा ही समझ लिया। हम भी बनिए के बच्चे हैं, बुद्धू कहीं और होंगे। पहले जाकर किसी गढ़े में मुँह धो आओ, तब दाम लेना। न जी मानता हो, तो हमारा बैल खोल ले जाओ। महीने भर के बदले दो महीना जोत लो। और क्या लोगे?

चौधरी के अशुभचिन्तकों की कमी न थी। ऐसे अवसरों पर वे भी एकत्र हो जाते और साहूजी के बर्राने की पुष्टि करते। इस तरह फटकारें सुनकर, बेचारे चौधरी अपना-सा मुँह लेकर लौट आते, परंतु डेढ़ सौ रुपयों से इस तरह हाथ धो लेना आसान न था। एक बार वे भी गर्म हो पड़े। साहूजी बिगड़कर लाठी ढूँढ़ने घर चले गए। अब सहुआइनजी ने मैदान लिया। प्रश्नोत्तर होते-होते हाथापाई की नौबत आ पहुँची। सहुआइन नें घर में घुसकर किवाड़ बंद कर लिए। शोर-गुल सुनकर गाँव के भलमानस जमा हो गए। उन्होंने दोनों को समझाया। साहूजी को दिलासा देकर घर से निकाला। वे परामर्श देने लगे कि इस तरह सिर-फुटौवल से काम न चलेगा, पंचायत कर लो, जो कुछ तय हो जाए, उसे स्वीकार कर लो। साहूजी राजी हो गए। अलगू ने भी हामी भर ली।

पंचायत की तैयारियाँ होने लगी। दोनों पक्षों ने अपना-अपना दल बनाना शुरू किया। इसके बाद तीसरे दिन उसी वृक्ष के नीचे फिर पंचायत बैठी। वही संध्या का समय। खेतों में कौवे पंचायत कर रहे थे। विवाद-ग्रस्त विषय यह था कि मटर की फलियों पर उनका कोई स्वत्व है या नहीं। और, जब तक यह प्रश्न हल न हो जाए, तब तक वे रखवाले की पुकार पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक समझते थे। पेड़ की डालियों पर बैठी शुक-मंडली में यह प्रश्न छिड़ा हुआ था कि मनुष्यों को उन्हें बेमुरौवत कहने का क्या अधिकार है, जबकि उन्हें स्वयं अपने मित्रों से दगा करने में संकोच नहीं होता।

पंचायत बैठ गई, तो रामधन मिश्र ने कहा——अब देरी क्या है? पंचों का चुनाव हो जाना चाहिए। बोलो चौधरी, किस-किस को पंच बदते हो?

अलगू चौधरी ने कहा——समझू साहूजी चुन लें।

समभू खड़े हुए और अकड़कर बोले—मेरे तरफ से जुम्मन शेख।

जुम्मन का नाम सुनते ही चौधरी का कलेजा धकधक करने लगा, मानो, किसी ने अचानक थप्पड़ मार दिया हो। रामधन अलगू के मित्र थे। वे बात को ताड़ गए। पूछा—क्यों चौधरी, तुम्हें तो कोई उज्र तो नहीं ?

चौधरी ने निराश होकर कहा—नहीं, मुझे क्या उज्र होगा ?

अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान बहुधा हमारे संकुचित व्यवहारों का सुधारक होता है। जब हम राह भूलकर भटकने लगते हैं, तब यही ज्ञान हमारा विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक बन जाता है।

पत्र-संपादक अपनी शांत कुटी में बैठा हुआ, कितनी धृष्टता और स्वतंत्रता के साथ, अपनी प्रबल लेखनी से मंत्रिमंडल पर आक्रमण करता है। परंतु ऐसे अवसर भी आते हैं, जब वह स्वयं मंत्रिमंडल में सम्मिलित होता है। मंडल के भवन में पग धरते ही उसकी लेखनी कितनी मर्मज्ञ, कितनी विचारशील, कितनी न्यायपरायण हो जाती है, इसका कारण उत्तरदायित्व का ज्ञान है।

नवयुवक युवावस्था में कितना उद्दंड रहता है। माता-पिता उसकी ओर से कितने चिन्तित रहते हैं। वे उसे कुल-कलंक समझते हैं। परंतु थोड़े ही समय में, परिवार का बोझ सिर पर पड़ते ही, वही अव्यवस्थित-चित्त उन्मत्त युवक कितना धैर्यशील, कैसा शांत-चित्त हो जाता है, यह भी उत्तर-दायित्व के ज्ञान का ही फल है।

जुम्मन शेख के मन में भी, सरपंच का उच्च स्थान ग्रहण करते ही, अपनी जिम्मेदारी का भाव पैदा हुआ। उन्होंने सोचा, मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। मेरे मुँह से इस समय जो कुछ निकलेगा, यह देववाणी के सदृश होगा और देववाणी में मनोविकारों का समावेश कदापि न होना चाहिए, मुझे सत्य से जौ भर भी टलना उचित नहीं।

पंचों ने दोनों पक्षों से सवाल-जवाब करना शुरू किया। बहुत देर तक दोनों दल अपने-अपने पक्ष-समर्थन करते रहे। इस विषय में तो सब सहमत थे कि समभू को बैल का मूल्य देना चाहिए, परंतु दो महाशय इस कारण रियायत करना चाहते थे कि बैल के मर जाने से समभू को हानि हुई।

इसके प्रतिकूल दो सभ्य मूल्य के अतिरिक्त समभू को दंड भी देना चाहते थे, जिससे फिर किसी के पशुओं के साथ ऐसी निर्दयता करने का

साहस नहीं करे। अंत में, जुम्मन ने फैसला सुनाया—अलगू चौधरी और समझू साहू! पंचों ने आपके मामले पर अच्छी तरह विचार किया है। समझू को उचित है कि बैल का पूरा दाम दे दे। जिस वक्त उन्होंने बैल लिया, उसे कोई बीमारी न थी। अगर उसी समय दाम दे दिया जाता, तो समझू उसे फेर लेने का आग्रह न करते। बैल की मृत्यु केवल इस कारण हुई कि उससे बड़ा कठिन परिश्रम लिया गया और उसके दाने-चारे का कोई अच्छा प्रबंध न किया गया।

रामधन मिश्र बोले—समझू ने बैल को जान-बूझकर मारा है। अतएव उसे दंड मिलना चाहिए।

जुम्मन बोले—वह दूसरा सवाल है। हमको इससे कोई मतलब नहीं।

अलगू ने कहा—समझू के साथ कुछ रियायत होनी चाहिए।

जुम्मन बोले—यह अलगू चौधरी की इच्छा पर निर्भर है। वे रियायत करें तो उनकी भलमनसी है।

अलगू चौधरी फूले न समाए। उठ खड़े हुए और जोर से बोले—पंच-परमेश्वर की जय।

चारों ओर से प्रतिध्वनि हुई—पंच-परमेश्वर की जय।

प्रत्येक मनुष्य जुम्मन की नीति को सराहता था—इसे कहते हैं न्याय। यह मनुष्य का काम नहीं। पंच में परमेश्वर वास करते हैं। यह उन्हीं की महिमा है। पंच के सामने खोटे को कौन खरा कर सकता है? थोड़ी देर बाद जुम्मन अलगू के पास आए और उनके गले लिपटकर बोले—भैया, जब से तुमने मेरी पंचायत की, तब से मैं तुम्हारा प्राणघातक शत्रु बन गया था, पर आज मुझे ज्ञात हुआ कि पंच के पद पर बैठकर न कोई किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। न्याय के सिवा उसे और कुछ नहीं सूझता। आज मुझे विश्वास हो गया है कि पंच की जबान से खुदा बोलता है।

अलगू रोने लगे। इस पानी से दोनों के दिलों का मैल धुल गया। मित्रता की मुरझाई हुई लता फिर हरी हो गई।

प्रश्न और अभ्यास

१. प्रेमचंद जी ने इस कहानी का शीर्षक "पंच-परमेश्वर" क्यों रखा है?
२. लेखक ने किस उद्देश्य से यह कहानी लिखी है?
३. इस कहानी के पढ़ने से मन में कौन-सा विचार उत्पन्न होता है? क्यों?
४. विद्योपार्जन के संबंध में अलगू के पिता के विचार आपको पसंद है या जुमराती शेख के? इस संबंध में यदि आपके कुछ अपने विचार हों, तो उन्हें भी लिखिए।
५. अलगू की खालाजान को क्यों पंचायत बुलानी पड़ी?
६. यह जानते हुए भी कि अलगू जुम्मन का मित्र है, बुढ़िया ने अलगू को ही पंच क्यों बनाया?
७. अलगू द्वारा दिए गए फैसले का जुम्मन पर क्या प्रभाव पड़ा?
८. यदि आपका कोई मित्र आपके साथ वैसा ही बर्ताव करे, जैसा अलगू ने पंच बनकर जुम्मन के साथ किया, तो आप क्या करेंगे?
९. आपके विचार से बैल के मर जाने की जिम्मेदारी किस पर है? क्यों?
१०. जुम्मन ने मौका मिलने पर भी अलगू के विरुद्ध फैसला क्यों नहीं दिया?
११. अलगू और जुम्मन के चरित्रों की समीक्षा करें।
१२. "पंच-परमेश्वर" कहानी की कथा-वस्तु के आधार पर एक एकांकी तैयार करें और विद्यालय की सांस्कृतिक बैठक में अभिनय प्रस्तुत करें।
१३. नियम बताते हुए सन्धि-विच्छेद करें:
'विद्योपार्जन', 'अन्योक्ति', 'रसास्वादन', मनोविकार', 'व्याधि'।
१४. सविग्रह समास बताएँ:
'नीतिपरायणता', 'अनमोल', 'आजीवन', परमेश्वर', 'शिष्टाचार', 'मंत्रिमंडल'।
१५. निम्नलिखित मुहावरों का अर्थ लिखें तथा इनसे वाक्य बनाएँ:
'कन्नी कटाना', 'दूध का दूध पानी का पानी', 'चैन की वंशी बजाना', मुहर लगा देना', 'आँखों में धूल झोंकना', 'गले पर छुरी फेरना'।

पूर्णसिंह

अध्यापक पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८१ ई० में सलहड गाँव, जिला एबटाबाद (अब पाकिस्तान) में हुआ था। लाहौर विश्वविद्यालय से इंटरमीडिएट परीक्षा पास करने के पश्चात् ये रसायनशास्त्र के अध्ययन के लिए जापान गए। वहीं स्वामी रामतीर्थ के संपर्क में आए और इनकी रुचि अध्यात्म की ओर हो गई। भारतवर्ष आने पर देहरादून में वन-विभाग में इनकी नियुक्ति हुई पर कुछ परिस्थितियों के कारण इन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी और जीवन के अंतिम दिन धनाभाव में बिताने पड़े। सन् १९३१ ई० में देहरादून में इनकी मृत्यु हो गई।

सरदार पूर्णसिंह सच्चे आस्तिक, मानवता-प्रेमी तथा उदार व्यक्ति थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ अंग्रेजी और पंजाबी में हैं। हिन्दी में इनके केवल छह निबंध उपलब्ध हैं जिनका भाव, भाषा और शैली के कारण हिन्दी निबंध-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'सरदार पूर्णसिंह के निबंध' नामक पुस्तक में ये सभी निबंध संकलित हैं।

पूर्णसिंह की शैली आवेशमयी है। इनकी भावुक प्रकृति का प्रभाव भाषा पर स्पष्ट दिखाई देता है। विषय-प्रतिपादन के लिए ये दृष्टांत देते चलते हैं। विषय के अनुसार इनके वाक्य कहीं छोटे तथा सरल हैं और कहीं लंबे और जटिल। इन्होंने तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का यथास्थान प्रयोग किया है। प्रवाह इनके निबंधों का विशेष गुण है। लेखक की मस्ती में रँगकर भाषा अत्यंत आकर्षक हो गई है तथा उसकी निष्ठा और आस्था से उसमें विशेष शक्ति आ गई है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने गड़रियों और किसानों के स्वाभाविक सरल जीवन की आकर्षक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं तथा श्रमिकों के प्रति उदार मानवीय दृष्टि रखने पर बल दिया है: मजदूरी देकर ही हमारा कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता प्रत्युत मजदूर के प्रति कृतज्ञता का भाव भी हमें अपने स्नेह-दान से व्यक्त करना चाहिए।

पूर्णसिंह

मजदूरी और प्रेम

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में, आहुति हुआ-सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मंदिर, मसजिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे चश्मों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका

इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं, गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन्-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे-मुकुट के गोपालों के दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी ऐसे फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं। और क्यों न सफेद हों? सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बर्फानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं। इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित

है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सफेद। अपनी सफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आँखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जाएँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस बनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जाएँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़रिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह, क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब

चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने मेरी उम्रभर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का-सा समाँ बँध जाता है।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफेल आदि के चित्रित चित्रों से उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव-से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार-मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है।

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी-कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। अब तो यही इरादा

है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है, यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के ! जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे ज़ोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम-से-उत्तम और नीच-से-नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों को नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों-दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मल्हार का काम देगा।

मजदूरी और फकीरी का महत्त्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही

उम्रभर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का ? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नये, पत्ते नये—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी। ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मा-रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछनेवाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों से माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है ? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े-लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं, जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामनासहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिए जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभाव-पूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिन-रात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है, परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द-गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक

सीधी लकीर पर चलना है। अंत में, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानो उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थरूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है, जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिए मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबध है। मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑफ आर्क की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्स्टाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे-छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है, हम जगत को जीत लें। जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत के तीस* करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने

*उस समय अविभाजित भारत की जनसंख्या तीस करोड़ थी। देश के विभाजन के पश्चात् अब केवल भारत की जनसंख्या पचपन करोड़ के लगभग है।—स०

लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप-ही-आप आ गिरे।

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टाल्स्टाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होने वाला है। वहाँ के गंभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिए उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नये प्रभात का पूर्व-ज्ञान हुआ है।

चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें, मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनाएँ। फिर एक-एक प्याला घर-घर में, कुटिया-कुटिया में रख आएँ और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

प्रश्न और अभ्यास

१. किसान के कार्य को लेखक ने हवन क्यों कहा है?
२. 'केवल मजदूरी देकर ही मजदूर का ऋण नहीं चुकाया जा सकता।' इस कथन की विवेचना कीजिए।
३. लेखक ने हाथ से बनी वस्तुओं को यंत्रों से बनी वस्तुओं से क्यों अच्छा बताया है?
४. 'मजदूरी और प्रेम' किस प्रकार का निबंध है? उसकी शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
५. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ बताइए तथा इनका वाक्यों में प्रयोग कीजिए:
'निवारण', 'अचिन्तनीय', 'संकल्प', 'समष्टि', 'व्यष्टि'।
६. नीचे दिए शब्दों में संधि-विच्छेद कीजिए:
'नीरोगता', 'दर्शनार्थ', 'स्वाध्याय', 'पुष्पोद्यान', 'निर्जीव', 'पुनरावृत्ति', 'अन्योन्याश्रय'।

७. अधोलिखित उद्धरणों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:

(क) किसान प्रकृति के जवान साधु हैं।

(ख) कामनासहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है।

(ग) मजदूरी करना जीवन-यात्रा का आध्यात्मिक नियम है।

(घ) मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है।

रामचंद्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म वस्ती जिले (उत्तर प्रदेश) के अगौना ग्राम में सन् १८८४ ई० में हुआ था और इनकी मृत्यु सन् १९४० ई० में वाराणसी में हुई। इनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू और अंग्रेजी में हुई थी। विधिवत् शिक्षा ये केवल इंटरमीडिएट तक प्राप्त कर सके। प्रारंभ में कुछ वर्षों तक इन्होंने मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापन-कार्य किया। बाद में बाबू श्यामसुंदरदास ने इनकी विद्वता से प्रभावित होकर हिन्दी-शब्दसागर के संपादन में इन्हें अपना सहयोगी बनाया। फिर ये हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए और बाबू श्यामसुंदरदास के अवकाश ग्रहण करने पर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गए।

स्वाध्याय द्वारा इन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला और हिन्दी के प्राचीन साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। हिन्दी-साहित्य में इनका प्रवेश कवि और निबंधकार के रूप में हुआ और इन्होंने बंगला तथा अंग्रेजी से कुछ सफल अनुवाद भी किए। आगे चलकर आलोचना इनका मुख्य विषय बन गई। इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं:

(१) तुलसीदास, (२) जायसी ग्रंथावली की भूमिका, (३) सूरदास, (४) चिन्तामणि (२ भाग), (५) हिन्दी साहित्य का इतिहास, (६) रसमीमांसा।

शुक्ल जी हिन्दी के युगप्रवर्त्तक आलोचक हैं। इनके 'तुलसीदास' ग्रंथ से हिन्दी में प्रौढ़ आलोचना-पद्धति का सूत्रपात हुआ। शुक्ल जी ने जहाँ एक ओर आलोचना के शास्त्रीय पक्ष का विशद विवेचन किया वहाँ दूसरी ओर तुलसी, जायसी तथा सूर की मार्मिक आलोचनाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना का भी मार्ग प्रशस्त किया।

निबंध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का स्थान अप्रतिम है। 'चिन्तामणि' में संगृहीत मनोवैज्ञानिक निबंध हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन निबंधों में गंभीर चिन्तन, सूक्ष्म निरीक्षण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुंदर संयोग है। इनकी भाषा प्रांजल और सूत्रात्मक है। गंभीर प्रतिपादन के समय भी ये हास्य का पुट देते चलते हैं।

प्रस्तुत निबंध में शुक्ल जी ने विभिन्न परिस्थितियों के बीच उत्साह मनोभाव का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है और बताया है कि उत्साह के अंतर्गत साहस के साथ-साथ उत्कंठापूर्ण आनंद का होना भी आवश्यक है। इस निबंध में वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण शैली में विषय प्रस्तुत किया गया है।

रामचंद्र शुक्ल

उत्साह

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनंद-वर्ग में उत्साह का है। भय में हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के नियम से विशेष रूप में दुःखी और कभी-कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान् भी होते हैं। उत्साह में हम आनेवाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमंग से अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनंद का योग रहता है। साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है। कर्म-सौन्दर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कंठापूर्ण आनंद उत्साह के अंतर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर, दया-वीर इत्यादि भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्धवीरता है, जिसमें आघात, पीड़ा क्या, मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यंत प्राचीन काल से पड़ता चला आ रहा है, जिसमें साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप, बिना हाथ-पैर हिलाए, घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या धीर उस काम को आनंद के साथ करता चला जाएगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ-त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दान-वीरता तभी कही जाएगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन-निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दान-वीरता उतनी ही ऊँची समझी जाएगी। पर इस अर्थ-त्याग के साहस के साथ ही जब तक पूर्ण तत्परता और आनंद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुवदेश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर, बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनंदपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

मनुष्य शारीरिक कष्ट से ही पीछे हटनेवाला प्राणी नहीं है। मानसिक क्लेश की संभावना से भी बहुत से कर्मों की ओर प्रवृत्त होने का साहस उसे नहीं होता। जिन बातों से समाज के बीच उपहास, निन्दा, अपमान इत्यादि का भय रहता है उन्हें अच्छी और कल्याणकारिणी समझते हुए भी बहुत-से लोग उनसे दूर रहते हैं। प्रत्यक्ष हानि देखते हुए भी कुछ प्रथाओं का अनुसरण बड़े-बड़े समझदार तक इसलिए करते चलते हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जाएँगे, लोगों में उनका आदर-सम्मान न रह जाएगा। उनके लिए मानग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान-अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निन्दा-स्तुति की कुछ भी परवा न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं, दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की कुछ परवा न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करनेवाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस विरुद के लोभ में ही अपनी उछल-कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे

जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं, उनकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाहवाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निन्दा या अपमान की कुछ परवा नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस, भाव की दृष्टि से, कहीं अधिक मूल्यवान् है जो किसी प्राचीन प्रथा की——चाहे वह वास्तव में हानिकारिणी ही हो——उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़नेवालों की निन्दा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज-सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान् भी बहुत मिलते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति इतना सुंदर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्मरक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौन्दर्य को परपीड़न, डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी-बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्ममात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता, पर थोड़ा-बहुत आराम, विश्राम, सुभीते इत्यादि का त्याग सबमें करना पड़ता है, और कुछ नहीं तो उठकर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनंद का लगाव किसी क्रिया,

व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों के त्यों आनंदित होकर बैठे रह जाएँ या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। हमारा उत्साह तभी कहा जाएगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के प्रबंध में प्रसन्नमुख इधर-उधर आते-जाते दिखाई देंगे। प्रयत्न और कर्म-संकल्प उत्साह नामक आनंद के नित्य लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे उत्साहवाले वीर को कर्मवीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं; शस्त्र की नहीं। अत: विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है; अत: कर्मवीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी-कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जाएगी। ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाए जाते हैं; और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है— क़र्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म-श्रृंखला पर से होता हुआ

उसकी सफलतारूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान से जो आनंद की तरंगें उठती हैं वे ही हमारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्मप्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थिर रहता है, वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर और धर्म-वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति-लोभवश दिया जाता है। यदि श्रद्धावश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का, और यदि दयावश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उसी की ओर उत्साही का साहसपूर्ण आनंद उन्मुख कहा जा सकता है। अतः और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर-रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लाँघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे हैं उसका कारण समुद्र नहीं—समुद्र लाँघने का विकट कर्म है। कर्म-भावना ही उत्साह उत्पन्न करती है, वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

किसी कर्म के संबंध में जहाँ आनंदपूर्ण तत्परता दिखाई पड़ी कि हम उसे उत्साह कह देते हैं। कर्म के अनुष्ठान में जो आनंद होता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है—

१. कर्म-भावना से उत्पन्न,

२. फल-भावना से उत्पन्न, और

३. आगंतुक, अर्थात् विषयांतर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा

वीर जिस समय मैदान में उतरता है उसी समय उसमें उतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर यह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मंद पड़ती है---उसकी आशा कुछ धुँधली पड़ जाती है, तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना-प्रधान उत्साह बराबर एकरस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुःखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म-भावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली-जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पड़े, उसकी भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ लगाव न मालूम हो तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे कर्म-शृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जाएगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन कर्मों के साधन में भी देखी जाती है। वे कर्म भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते हैं। जब तक फल तक पहुँचानेवाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छामात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जाएगा वह अभावमय और

आनंदशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि-शून्य प्रयत्न में कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच ही में चूक जाता है। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक संयोग का अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और अंग सचेष्ट हो गए, उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनंद मिलता जाएगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ उस स्वर्णराशि तक पहुँचेगा। इस प्रकार उसके प्रयत्न-काल को भी फलप्राप्ति-काल के अंतर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जाएगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जाएँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर बैठ जाए या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है; चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाए। श्रीकृष्ण ने कर्म-मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया; पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे; चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति, धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या-क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है, इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंदपूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करनेवाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी, क्योंकि एक तो कर्मकाल में उसका जीवन बीता, वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न-कर्म के अनुसार, उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परंपरा का नाम ही प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के यहाँ से जब तक औषधि ला-लाकर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है——प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है——यह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन-भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाएँ, बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किए जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत-सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सबको वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ

करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख-प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात सीधी तरह भी पूछता है तो भी हम उस पर झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाए रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत-से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम-साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. भय और उत्साह तथा साहस और उत्साह में लेखक ने क्या अंतर बताया है? उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
२. किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है?
३. उत्साह से कर्म में तत्पर होने वाले का ध्यान, कर्म और फल दोनों में से किस पर अधिक रहता है? समझाकर लिखिए।
४. "शुक्ल जी के निबंधों में विचार-गांभीर्य के साथ-साथ हास्य-व्यंग्य का भी पुट पाया जाता है।"—प्रस्तुत निबंध को दृष्टि में रखकर यह कथन कहाँ तक ठीक है—सोदाहरण स्पष्ट किजिए।

५. निम्नलिखित शब्दों के विलोम दीजिए:
आसक्ति, प्रवृत्ति, उत्कर्ष, निश्चेष्ट, निर्जीव।

६. निम्नलिखित शब्दों में समास बताइए:
कर्मवीर, कर्मसौन्दर्य, उत्कंठापूर्ण, प्रसन्नमुख।

७. नीचे तीन शब्द दिए गए हैं जो क्रमश: 'मात्र', 'पूर्वक' और 'गत' के योग से बने हैं। इनके योग से कुछ और शब्द बनाइए:
इच्छामात्र, आनंदपूर्वक, अंतर्गत।

काका कालेलकर

काका साहब कालेलकर के लोक-प्रिय नाम से सुख्यात व्यक्ति का मूल नाम "दत्तात्रेय" है। आपका जन्म महाराष्ट्र के सतारा नगर में सन् १८८५ में हुआ था। भारतीय स्वाधीनता संग्राम तथा भारत में नवराष्ट्र के निर्माण के प्रसंग में आपका नाम महात्मा गाँधी तथा विनोबा जी के साथ स्वाभाविक रूप से लिया जाता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में पहचान कर उसके प्रचार में सतत सहयोग और मार्ग-दर्शन आपके जीवन का एक प्रमुख कार्य रहा है। आपके अध्ययन का क्षेत्र जितना विस्तृत है, चिन्तन का उतना ही गहरा। आपने सैकड़ों पुस्तकों का प्रणयन तथा संपादन किया है। आप हिन्दी, गुजराती, बंगाली और मराठी के भी मूर्द्धन्य लेखकों में हैं। काका साहब की हिन्दी में एक विशेष प्रकार का माधुर्य है, जो पाठकों को सहज ही खींच लेता है। उनके गद्य में भी पद्य की लयात्मकता रहती है। उनकी शैली प्रबुद्ध विचारक की सहज उपदेशात्मक शैली है, जिसमें विद्वत्ता, व्यंग्य, हास्य, नीति सभी तत्त्व विद्यमान हैं।

काका साहब ने देश-विदेश का भ्रमण कर उन स्थानों के भूगोल के साथ ही वहाँ की सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक बारीकियों का भी बडा ही सजीव वर्णन किया है। आप हिन्दी में यात्रा साहित्य के अन्यतम प्रणेता हैं। उनकी अनेक पुस्तकों का भारत की अन्याय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनकी कुछ प्रमुख रचनाएँ ये हैं:—

'स्मरण-यात्रा', 'धर्मोदय', 'हिमलपनो प्रवास', 'लोकमाता', 'जीवनो आनन्द', 'अवरनावर' इत्यादि।

आपकी अधिकांश पुस्तकें यात्रा-वर्णन अथवा लोक-जीवन के अनुभवों पर लिखी गई हैं।

प्रस्तुत निबंध 'अहिंसा की पुण्यभूमि' में आपने बिहार के राजगृह तथा पावापुरी नामक स्थानों की यात्रा का अत्यंत ही प्रवाहपूर्ण शैली में वर्णन प्रस्तुत किया है।
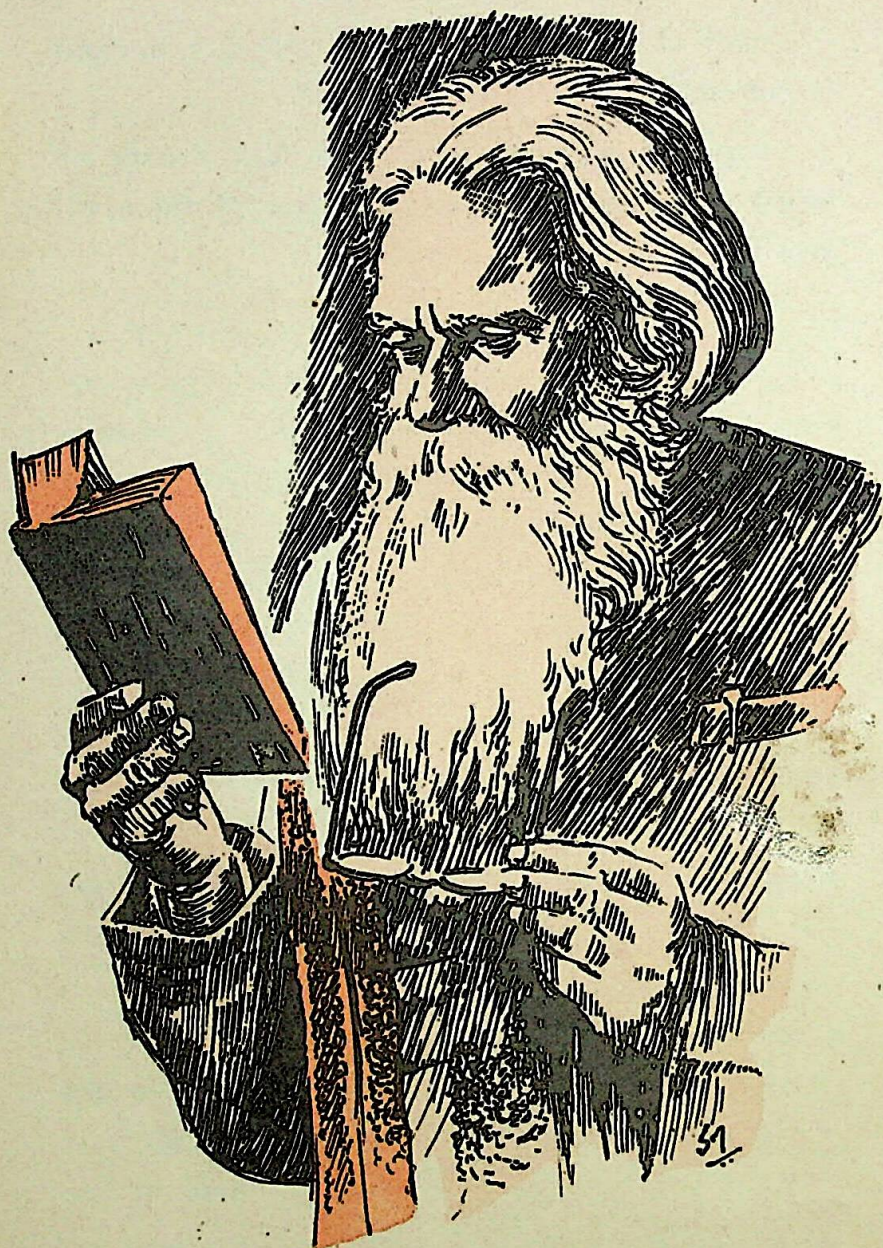
काका कालेलकर

अहिंसा की पुण्यभूमि

राजगीर से हम पावापुरी के लिए रवाना हुए। राजगृह के आसपास जो पाँच पहाड़ एकत्र हैं, उनमें से लंबे विपुलगिरि को दाहिनी तरफ करके हम चले। रास्ते में काम आएगा, इस खयाल से मकदूम-कुण्ड का पानी भरकर साथ ले लिया। मकदूम-कुण्ड का स्थान स्वाभाविक रूप से ही रमणीय है। वहाँ नहाने की व्यवस्था करने में इन्सानियत का खयाल रखा गया है, देखकर संतोष हुआ। परंतु, आसपास मछलियों की और मुरगी की हत्या होती हुई देख चित्त में ग्लानि पैदा हुई।

मेरे विचार तेजी के साथ अहिंसा की खोज में भविष्यकाल की ओर दौड़ रहे थे और उतने ही वेग से हमारी मोटर अहिंसा की पृष्ठभूमि की तरफ हमें ले जा रही थी।

विपुलगिरि के साथ हम सात मील तक पूरब की तरफ चले और वहाँ सूर्य के अस्त की तैयारी के साथ-साथ हमारे भाग्य का उदय हुआ; क्योंकि यहाँ हमने जो प्राकृतिक दृश्य देखा, वह सहज नहीं भुलाया जा सकता। जहाँ विपुलगिरि का उत्तुंग शिखर समाप्त होता है, वही सुभग-सलिला पंचान या पंचान वेद नदी रास्ते में आड़े आती है। यह स्पष्ट दिखाई देता था कि वह हमसे कहना चाहती थी, "यहाँ एक रात ठहरकर जाओ न ?" पर हमारी मोटर की तरफ ध्यान जाते ही उसने सोचा—"ये लोग जीवन-प्रवाही नहीं हैं, तैल-प्रवाही हैं। (या पेट्रोल-प्रवाही कहें ?) ये ठहरेंगे नहीं।"

सचमुच यह स्थान इतना सुंदर था कि अगर सीता माता यहाँ आई होतीं, तो कम-से-कम तीन रात ठहरे बिना आगे न जातीं। भव्य पहाड़ की छाया, पूजा के अक्षत-जैसी धवल रेत और "हम कोई सामान्य पादप नहीं हैं, कुदरत के दरबार के दरबारी हैं," ऐसे गर्व से झूमनेवाले ताड़ के वृक्ष और बीच-बीच में घास और हरियाली का गलीचा सभी कुछ चित्त को तर करने वाला था। "मैं आई, मैं आई," कहती हुई संध्या ने सोने की छींटे छिड़कना शुरू कर दिया था और पिता के समान पहाड़ उसे रोक रहा था।

रेत में मोटर चलाना कोई सहज काम नहीं था। परंतु, गाँव के लोगों

ने ताड़ के विशाल हाथ रेत में समानांतर पसार दिए थे। इसलिए, हम आसानी से उस पार जा सके और वहाँ से पीछे की तरफ मुँह फेरकर अतृप्त आँखों से उस सारे दृश्य का फिर से पान कर सके। हम जहाँ खड़े थे, वहाँ हमारे पीछे छोटा-सा गाँव व्यालू की तैयारी कर रहा था।

गिरियक पार करते ही हम बज्रलेप रास्ते पर आए और बाईं ओर हमने पाँच मील की दौड़ लगाई। यह सारा रास्ता तय करते वक्त हमारी आँखें पश्चिम दिशा की तरफ लगी हुई थीं। पहाड़ लाँघते ही सूर्यनारायण के फिर दर्शन हुए, जिसका प्लैटिनम अब सोने का रूप ग्रहण कर रहा था। ताड़ के पेड़ खिलाड़ी बालकों की तरह दौड़-दौड़कर दर्शन में अंतराय करते और दर्शन का आनंद दसगुना बढ़ाते थे। अस्तायमान सूर्य अपनी शोभा से यह सिद्ध कर रहा था कि आर्यजन प्रत्येक स्थिति में आर्य ही रहते हैं और आदर के अधिकारी होते हैं। क्या यहाँ की खेती, क्या ताड़ के और दूसरे पेड़, क्या रास्ता सभी कलामय नजर आते थे। आधे बुने हुए खेत अपनी सीधी लकीरों से सारे चित्र को रेखांकित कर रहे थे और सूरज हल्के-हल्के अपना ऊँचा स्थान छोड़कर पृथ्वी को पुचकारने और सहलाने के लिए नीचे उतर रहा था। आँखों को चौंधियाने वाला अपना तेज अब उसने उतार रखा था। सूर्यास्त को आखिर तक देखते रहे या नहीं, इसका निर्णय कर सकने के पहले ही हमारी दाहिनी तरफ रास्ते के खंभों ने "पावापुरी रोड" की गर्जना की और हमने तुरंत ही दाक्षिण्य का सेवन किया।

हरे-हरे खेतों के विस्तार में पावापुरी के शुभ्र मंदिर कैसे शोभा देते हैं। इस जगह एक आर्यहृदय के जीवन-काल का अंत हुआ था। इस जगह "वायुः अनिलं, अमृतं अथेदं भस्मान्तं शरीरं" की वेदवाणी कृतार्थ हुई थी और यहीं से भगवान महावीर के गणधर अहिंसा का संदेश लेकर दस दिशाओं में फैल गए थे। जिसने उस स्थान को "अपापापुरी" का नाम दिया, उसे अतिशयोक्ति करने की आदत थी, ऐसा कोई नहीं कह सकता। अहिंसा, अपरिग्रह और तपस्या अगर पाप को हटाने में समर्थ न हों, तो मनुष्य को कभी पुण्य के मार्ग का सेवन करना ही नहीं चाहिए।

कहते हैं कि गोरखपुर जिले में काशिया के पास पुप्पोर नाम का जो गाँव है, वहीं महावीर का वास्तविक निर्वाण-धाम है। बेशक पावापुरी की अपेक्षा पुप्पोर नाम ही अपापपुर से अधिक मिलता-जुलता है। कैनिंघम

और राहुल सांकृत्यायन भले ही सिद्ध करते रहें कि पुप्पोर ही असली स्थान है। लेकिन, अगर जैनों की श्रद्धा उसे वहाँ से घसीटकर पावापुरी में लाई हो, तो वैसा करने का उसे अधिकार है। हम तो इतिहास को खोद-खोद कर देखने वाली दृष्टि की अपेक्षा भक्तों की श्रद्धा का ही अधिक आदर करेंगे।

और, हमने लगभग बीस वर्ष पहले यह स्थान देखा था। इसलिए, अब तो मन-ही-मन हमारा यह निश्चय बँध चुका है कि अपापपुर दूसरा हो नहीं सकता।

रास्ते की एक बड़ी सर्पाकृति मोड़ पार करके हम जल-मंदिर के महाद्वार के पास जा पहुँचे। दूसरे तीर्थस्थानों में जैसी एक तरह की घबराहट होती है, वैसी यहाँ नहीं हुई। यहाँ सब कुछ शांत और प्रसन्न था। नया महाद्वार और उस पर बना हुआ नक्कारखाना, जो अब तक पूरा नहीं हुआ है, जल-मंदिर तक बना हुआ 'चौड़ा पुल' सब कुछ एक खास किस्म के लाल पत्थर से पाटा हुआ है। पुल के दोनों तरफ बगीचे हैं और तालाब के अंदर कमल के पत्ते सारे तालाब को ढक देना उचित होगा या नहीं, इसके अनिश्चय में सहज भाव से डोल रहे हैं। नीचे घाट के सामने वाला मंदिर पुल से ठीक समकोण नहीं है, यह विशेषता तुरंत ही ध्यान खींचती है। इसलिए कुछ अटपटा-सा लगता है। परंतु, अंत में मन में यही निर्णय होता है कि इनमें भी एक प्रकार की विशेष सुंदरता है।

यहाँ आने के बाद भला अमृतसर का सुवर्ण-मंदिर याद आए बिना कैसे रह सकता, पर अमृतसर का तालाब एक तो कुछ छोटा है, दूसरे वह है मनुष्य की बस्ती के बीच और तीसरे उसमें कमल नहीं हैं। इसके अतिरिक्त सुवर्ण-मंदिर में कबूतरों का उपद्रव आध्यात्मिक शांति का नाश करता है। यहाँ पावापुरी में धान के खेतों के बीच शोभा देने वाला यह कमल-कासार अपनी स्वाभाविकता से राज करता है और उसमें बना हुआ जल-मंदिर किसी लोभी मनुष्य की तरह सारे द्वीप को व्याप नहीं लेता। उसने अपने चारों तरफ घूमने-फिरने के लिए काफी खुली जगह रख छोड़ी है और अपरिग्रह का वातावरण बनाया है। मदुरा के विशाल मंदिरों में अगर भव्यता है, तो पावापुरी के इस छोटे-से मंदिर में लघिमा और लावण्य की सिद्धि है।

इस बार पावापुरी के सरोवर में साँप न देख सकने से कुछ निराशा हुई। साँप जब पानी में नाचता है, तब वह दृश्य मछलियों के विहार से कहीं

अधिक कलात्मक होता है और पावापुरी को छोड़ दूसरे किस स्थान में ऐसा दृश्य देखने को मिलनेवाला था ? मद्रास की "जलचरी" (अक्वेरियम) है सही, किन्तु वह है छोटी। और, काँच-कुंड के कगारों से बिजली के प्रकाश में देखने की सुविधा होते हुए भी उसे कृत्रिम ही कहना चाहिए।

संध्या की शांति का समय था। हम सीधे मंदिर के भीतर पहुँचे। वहाँ एक भाई और एक बहन बीचोबीच बैठकर कुछ पाठ कर रहे थे। भाई को पढ़ने में कहीं कठिनाई हुई तो बहन तुरंत उसकी सहायता के लिए दौड़कर उसकी कठिनाई दूर कर देती थी। हमारे देश में ऐसा दृश्य स्वागत के योग्य है।

अहिंसा का साक्षात्कार करनेवाले तपस्वी महावीर का कुछ क्षण के लिए ध्यान करके मैं बाहर निकला और गुँथा हुआ आटा लेकर मनोविनोद के लिए मछलियों को चुगाने के हेतु द्वीप की सीढ़ियों के पास गया। हिन्दूमात्र को यह कार्य पुण्यप्रद मालूम होता है। मैंने इसमें पुण्य तो कहीं नहीं पाया, परंतु विनोद खूब पाया। मछलियों का आकार कलापूर्ण होता ही है। खासकर जब वे झुंड में इकट्ठी होती हैं और क्रीड़ा करती हैं अथवा खाने के लिए छीना-झपटी करती हैं तब, मोड़ों, ऐठनों का नृत्य एक जीवित काव्य बन जाता है। मैंने आँखें फाड़कर साँपों को खोजा और निराश होकर इस मत्स्यनृत्य से ही संतोष माना।

यह जल-मंदिर महावीर का निर्वाण-स्थान नहीं है, वह तो गाँव-मंदिर के नाम से पहचाने जाने वाले स्थल-मंदिर में है। जल-मंदिर के स्थान पर महावीर की देह का अग्नि-संस्कार किया गया था।

कलकत्ता के कला-रसिक श्रीबहादुर सिंह सींघी की धर्मशाला में थोड़ा-सा आराम किया। प्रकाश और अंधकार के बीच होने वाले गजंग्राह के समय उस तरफ से हमने जल-मंदिर का अंतिम दर्शन किया। मैं उसके काव्य का अनुभव करने जा रहा था कि पड़ोस के किसी मंदिर से उदात्त-स्वरित घंटानाद सुनाई दिया और संध्या-काव्य सहसा मुखरित हो उठा। मेरा शरीर हर्षोत्फुल्ल होने लगा कि इतने में आकाश के तारों ने प्रकट होकर रात्रि के आकाश को भी पुष्पित कर दिया। इस स्थिति का उन्माद अरसिक क्या जाने ?

जल-मंदिर देखने के बाद गाँव-मंदिर में जाना क्रमप्राप्त ही था। अँधेरे

में हाथ में बिजली की कर-दीपिकाएँ लेकर हम गाँव-मंदिर में गए। हमारे साथ सदाकत-आश्रम के मथुरा बाबू जैसे विज्ञापनपटु सज्जन होने के कारण लोगों को मालूम हो गया कि यह तो "महात्माजी के साथ रहने वाले काका कालेलकर हैं।" एक स्थानीय महाशय ने शायद "जैनेतर दृष्टि से जैन" नामक पुस्तिका पढ़ी होगी, इसलिए उन्होंने मेरे विषय में यह और भी जानकारी दी कि काका साहब अट्ठारह साल पहले पावापुरी में आए थे और सम्मोसरण के स्थान पर उन्होंने एक प्रवचन भी दिया था। अब तो एकांत का अनुभव करने की गुंजाइश ही नहीं रह गई। वहाँ एकत्र हुए भक्तों में राजमहेंद्री की तरफ से आया हुआ एक गुजराती परिवार था। एक बार मैं उनका मेहमान रह चुका था। फिर तो पूछना ही क्या? बहुत-सी बातें हुईं।

गाँव-मंदिर में किसी साधु की अनेक उक्तियाँ जहाँ-तहाँ लिखी गई थीं। स्वर्ग, नरक और जैन तीर्थ-स्थानों के चित्र तो होने ही चाहिए। ये वचन चाहे जितने बोधप्रद हों और ये चित्र-प्रसंग चाहे जितने भव्य हों, तो भी मेरी दृष्टि में मंदिर में अप्रस्तुत हैं। अगर रहा ही न जाता हो, तो मंदिर के पास एक स्वतंत्र मंडप बनवाकर उसमें चित्रों और वचनों के प्रदर्शन का आयोजन किया जा सकता है। लेकिन, मंदिरों को तो अपने-आप अपनी सहज मौन भाषा में बोलने देना चाहिए। मंदिरों में फूल रखे जा सकते हैं, धूप-दीप जलाए जा सकते हैं और संगीत भी गूँज सकता है। भक्ति-रस में इनसे बाधा नहीं पहुँचती, उल्टे कुछ सहायता ही मिलती है। परंतु, चित्र और अक्षर तो दूसरी ही सृष्टि के प्रतिनिधि हैं।

पुराने जमाने में तीर्थ करने गए होते, तो पंडों की बहियों में नाम, गाँव, ठौर-ठिकाना लिखना पड़ता। आजकल तो संख्या देखने जाइए, तो भेंट-संग्रह में कुछ-न-कुछ लिखना पड़ता है। अब तो अजायबघरों की तरह मंदिरों में भी अभ्यागतों की सम्मतियों की पुस्तक रखी जाती है। "देखा हमारा मंदिर? लिख दीजिए आपके दिल पर जो छाप पड़ी है। और आपको जो आनंद हुआ हो उसे" ऐसा कहकर जब किताब आगे रखी जाती है, तब मैं असमंजस में पड़ जाता हूँ। आनंद व्यक्त करने में मुझे संकोच नहीं होता। अगर वैसा होता, तो मैं यह यात्रा-संस्मरण नहीं लिखता। परंतु, आनंद को भी जमने और पकने में समय लग जाता है। अगर पुजारी विनता की तरह उतावली करेंगे, तो उसमें से विकलांग अरुण का ही जन्म होगा।

बड़े प्रेम से सबसे विदा लेकर हम तैल-वाहन में सवार हुए और समय पर पटना पहुँचने के लिए मुख्य रास्ते पर आ पहुँचे। आकाश के सितारों ने समझाया कि अब हम पश्चिम को जा रहे हैं, दोनों तरफ के पुराणपुरुष जैसे वृक्ष यात्रा की सफलता का आशीर्वाद दे रहे थे। अब तो रास्ते के दोनों तरफ मोटर के प्रकाश से चार-छह क्षणों के लिए प्रकट होने वाले और फिर तिरोहित होने वाले वृक्षों के सिवा देखने की कोई चीज नहीं थी। एकाध खरगोश या लोमड़ी मोटर के प्रकाश से भड़ककर भागने लगती थी, तो अलबत्ता ध्यान खींचती थी। परंतु, पावापुरी की अहिंसा-भूमि के जी-भर के दर्शन करने के बाद और कुछ देखने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। आकाश के नित्य-नूतन तारे भी बड़े प्रेम से कहने लगे, "हम तो हमेशा के लिए हैं ही। आज हमारे साथ बातें न करो, तो हर्ज नहीं है। हम चिरसाक्षी हैं। यहाँ हमने अनेक अवतारों को देखा है। कई घटनाएँ हमने अपनी आँखों के निमेष और उन्मेषों में सँजोकर रखी हैं। आज हम तुम्हारे ध्यान में अंतराय नहीं करेंगे। तुम ध्यान करते जाओ और हम अपने आध्यात्मिक ताल से तुम्हारा साथ करेंगे।"

प्रश्न और अभ्यास

१. मकदूम कुंड देखने पर लेखक में संतोष और ग्लानि दोनों के भाव क्यों उत्पन्न हुए ?
२. सूर्यास्त की तैयारी के साथ-साथ लेखक को अपने भाग्य का उदय क्यों अनुभव हुआ ?
३. "जीवन-प्रवाही" और "तैल-प्रवाही" का अर्थ बताएँ। इन दोनों का अंतर भी स्पष्ट करें।
४. इस पाठ के आधार पर गिरियक और पावापुरी के बीच के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अपनी भाषा में करें।
५. आप 'पुप्पोर' और 'पावापुरी' में किसको भगवान महावीर का निर्वाण-स्थान मानेंगे ? सकारण उत्तर दें।
६. लेखक ने अन्य तीर्थ-स्थानों और पावापुरी में क्या अंतर पाया ?
७. पावापुरी के इस छोटे से मंदिर में लघिमा और लावण्य की सिद्धि है—कैसे ?
८. मंदिर की दीवालों पर कुछ लिखना अथवा चित्र बनाना लेखक को अनुपयुक्त क्यों लगता है ?
९. पावापुरी देखने के बाद लेखक को और कुछ देखने की इच्छा क्यों नहीं हो रही थी ?

१०. अपने वाक्यों में प्रयोग द्वारा निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट करें:—
अपरिगृह, सर्पाकृति, आध्यात्मिक, लावण्य, साक्षात्कार, मनोविनोद, हर्षोत्फुल्ल, अभ्यागत, चिरसाक्षी।

११. संधि-विच्छेद करें:—
मनोविनोद, हर्षोत्फुल्ल, विकलांग, सर्पाकृति, अभ्यागत।

१२. समास बताएँ:—
सुवर्ण-मंदिर, बोध-प्रद, चिर-साक्षी, अभ्यागत, हर्षोत्फुल्ल।

वृंदावनलाल वर्मा

डा० वृंदावनलाल वर्मा का जन्म सन् १८८९ ई०. में झाँसी जिले (उत्तर प्रदेश) के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ था। बी० ए०, एल-एल० बी० करने के बाद ये झाँसी में वकालत करने लगे। वर्मा जी आखेट-प्रेमी, पर्यटक, ऐतिहासिक अनुसंधानकर्ता तथा साहित्यकार थे। बुंदेलखंड का मध्यकालीन इतिहास इनके कथा-साहित्य का प्रमुख आधार है।

वर्मा जी ने अनेक उपन्यास, कहानियाँ और नाटक लिखे हैं। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया', 'विराटा की पद्मिनी', 'गढ़कुंडार' आदि इनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 'हंसमयूर', 'पूर्व की ओर', 'ललितविक्रम', 'राखी की लाज' आदि इनके नाटक हैं। 'दबे पाँव', '१८५७ के समरवीर', 'ऐतिहासिक कहानियाँ', 'अँगूठी का दान', 'रश्मि-समूह' आदि कहानी-संग्रह हैं। इनकी अनेक कृतियाँ हिन्दुस्तानी एकेडमी, भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, साहित्यकार-संसद् आदि संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। इनकी साहित्यिक सेवाओं के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट० (सम्मानार्थ) की उपाधि से विभूषित किया था।

वर्मा जी के उपन्यासों में इतिहास और कल्पना का सुंदर योग है। नाटकों में भी इन्होंने इतिहास को आधार बनाया है।

वर्मा जी कहानी कहने की कला में बड़े सिद्धहस्त थे। घटना-वैचित्र्य के साथ प्रकृति-चित्रण का भी सम्यक् मेल होने से इनकी कथा बहुत ही सजीव और मर्मस्पर्शी हो उठती है। मानव-प्रकृति का भी इन्हें सूक्ष्म ज्ञान था और इसलिए चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी इनका कथा-साहित्य उच्च कोटि का है। अतीत के ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर अपनी कल्पना एवं सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के सहारे उन्होंने ऐसा मनोरम एवं सजीव चित्र खड़े कर दिए हैं कि पाठक उसमें पूर्णरूप से रम जाता है। निस्संदेह वर्मा जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं।

वर्मा जी की भाषा सरल एवं प्रवाहमयी है और कथा-साहित्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है। बुंदेली के शब्दों का भी इन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है।

प्रस्तुत पाठ 'दबे पाँव' नामक पुस्तक से उद्धृत है। इसमें शिकारी जीवन का एक मनोरंजक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस वर्णन से पाठक को घटना-वैचित्र्य के साथ प्रकृति के मनोरम दृश्यों का भी आनंद प्राप्त होता है।

वृंदावनलाल वर्मा

शेर का शिकार

एक बार विन्ध्यखंड के किसी सघन वन का भ्रमण करने के बाद फिर बार-बार भ्रमण की लालसा होती है। इसलिए सन् १९३४ ई० के लगभग मैं कुछ मित्रों के साथ मंडला गया।

मंडला की रेलयात्रा स्वयं एक प्रमोद थी। पहाड़ी में होकर रेल घूमती कतराती गई थी। गहरे-गहरे खड्ड, गर्मियों में भी जल-भरे नदी-नाले और कौतुकों से भरी हुई नर्मदा। मंडला जिले में ही तो कान्हाकिसली का विशाल, किन्तु वर्जित जंगल है। मंडला जिले में ही छोटे-से सुंदर नाम और बड़े दर्शनवाला—मोती नाला है। नाम मोती नाला ही है, परंतु इस नाम का जंगल बड़ा और विस्तृत, विहंगम और बीहड़ है। मोती नाला जंगल में शेर बहुतायत से पाए जाते हैं। मार्ग में जगमंडल नाम का बड़ा वन मिलता है। सरही और सागौन के भीमकाय वृक्ष भरे पड़े हैं। जलभरे नदी-नालों की कोई कमी नहीं।

जगमंडल नाम के जंगल में ही शेरों की काफी संख्या है। साँभर, चीतल, बाइसन और भैंसे भी मिलते हैं।

एक दिन तो हम लोग टोहटाप में लगे रहे। जिस नाले में निकल जाएँ उसी में शेरों के पद-चिह्न। एक नाले में दोनों किनारों से आड़ी पगडंडियाँ पड़ गई थीं। वहाँ पर रेत में शेरों के इतने निशान मिले कि हम लोग अचरज में डूब गए। झाँसी जिले के नालों में जैसे ढोरों के निशान मिलते हैं वैसे शेरों के मिले। कुशल यही रही कि नालों की घास में कोई शेर पड़ा हुआ नहीं मिला।

दूसरे दिन दुपहरी में भटक-भटकाकर हम लोग डेरे पर आ गए। साथ में मंडला से आटा ले आए थे, क्योंकि इस ओर गाँवों में दाल-चावल और मिर्च-मसाला तो मिल जाता है, परंतु आटा दुर्लभ है। भोजन शुरू ही किया था कि एक गोंड ने आकर समाचार दिया कि नाहर ने गायरा किया है।

पत्तल छोड़कर हम लोग उठ बैठे। उस समय तीन बजे होंगे। मचान

बाँधने का सामान, रस्से इत्यादि; पानी का घड़ा और बिस्तर साथ लिए और चल दिए।

एक नाले में राँझ के नीचे एक बड़ा बैल दबा पड़ा था। उस बैल की कहानी कष्टपूर्ण थी। उस जंगल में रेलवे लाइन पर बिछाए जाने वाले शहतीर---स्लीपर---काटे जा रहे थे और जबलपुर के लिए ढोए जा रहे थे। जबलपुर से एक गाड़ीवाला शहतीरों को ढोने के लिए अपनी गाड़ी लाया। शहतीरों तक नहीं जा पाया था, मार्ग में एक पानीवाला नाला मिला। गाड़ीवाले ने बैल ढील दिए, पुल के नीचे एक चट्टान पर खाना बनाने लगा। बैल जरा भटककर डाँग में चले गए। उनमें से एक को शेर ने मार डाला। उसको शेर उठाकर लगभग तीन फलाँग की दूरी पर ले गया और झाँस के नीचे एक छोटे-से नाले में दाब दिया। उस समय उसने बैल को बिलकुल नहीं खाया। सोचा होगा रात आने पर सुभीते में खाएँगे।

बैल को नाले में से निकलवाया। छह आदमी उसको बाहर निकाल सके। लगभग साठ डग पर एक ऊँचा बरगद का पेड़ था। नीचे जरा हटकर अचार और तेंदू के छोटे-छोटे गुल्ले थे। इनको साफ करवाकर एक पेड़ के ठूँठ को खूँटी का रूप दिया गया। बाँस के खपचे निकालकर उनसे बैल को पेड़ के ठूँठ से जकड़कर बाँध दिया गया।

उस रात चैत की पूर्णिमा थी। दिन में गर्मी रही, परंतु रात का सलोना सुहावनापन तो अनुभव के ही योग्य था। चारों ओर से महक़भरे मंद झकोरे आ रहे थे। कहीं से चीतल की कूक और कहीं से साँभर की रेंक सुनाई पड़ रही थी। स्यार भी कभी फेकर जाता था।

हमारा मचान भूमि से लगभग पच्चीस फुट की ऊँचाई पर था। मचान लंबा-चौड़ा था, सीधे डंडों से पुरा हुआ। ऊपर गद्दा और दरी। एक ओर डालों के तिफंसे में जलभरा घड़ा और कटोरा रखा था। मचान एक ओर से खुला हुआ था और तीन ओर से पत्तों से आच्छादित। उस पर केवल रीछ चढ़कर आ सकता था, शायद तेंदुआ भी --क्योंकि मैंने तेंदुए को अपनी आँखों पेड़ पर सहजगति से चढ़ते देखा है --परंतु शेर चढ़कर नहीं आ सकता है। मचान के सिरहाने की तरफ मैं बैठा था, दूसरी ओर मेरे मित्र शर्मा जी। मेरे सामने का भाग ज्यादा खुला था, शर्मा जी के सामने का कम।

मेरे अन्य मित्र काफी दूर अन्य मचानों पर थे।

आठ बज गए। चाँदनी खूब छिटक आई। मेरे सामने सौ गज तक खुला हुआ मैदान था, फिर घनी झाड़ी शुरू हुई थी।

आठ बजे के उपरांत इस खुले हुए मैदान में लगभग अस्सी गज की दूरी पर एक सफेद-सफेद-सा ढेर दिखलाई पड़ा। मैंने आँखों को गड़ाया। वह ढेर स्थिर था। सोचा आँखों का भ्रम है। कुछ मिनट बाद वह ढेर हिला और मचान की ओर थोड़ा-सा बढ़ा। विश्वास हो गया कि शेर है और बंदूक की अनी पर आ रहा है। मैंने शर्मा जी को इशारा किया। उन्होंने भी अपने झाँके में होकर देखा। वह लगभग आध घंटे तक, ठिठुरता-ठिठुरता-सा चला। फिर उसने उस नाले पर छलाँग भरी जिसमें वह दिन में मारे हुए बैल को ठूँस आया था। इसके उपरांत वह दृष्टि से लोप हो गया। बाट जोहते-जोहते ग्यारह बज गए। चाँदनी निखरकर छिटक गई थी। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। शर्मा जी ने सिर और आँखों पर हाथ फेरकर नींद की विवशता प्रकट की। मेरे भी सिर में दर्द था। हम दोनों लेट गए। मैंने सोचा, गायरा प्रबल खपचों से बँधा हुआ है, शेर आकर जब बैल को उठाने का उत्कट प्रयत्न करेगा हम लोग सोते ही न पड़े रहेंगे। लेटते ही सो गए, क्योंकि मचान पर किसी विशेष संकट की आशंका न थी।

चाँदनी ठीक ऊपर चढ़कर थोड़ी-सी वक्र हो गई थी। एक बजा था जब मुझको पेड़ के नीचे कुछ आहट मालूम पड़ी। मैं यकायक उठकर नहीं बैठा। मचान पर का जरा-सा भी शब्द सुनकर, यदि शेर होगा तो, फिर नहीं आएगा—शायद महीने पंद्रह दिन तक न आए, क्योंकि शेर तेंदुए की तरह ढीठ नहीं होता। मैं बहुत धीरे-धीरे उठा। आँखें मलकर मचान के नीचे झाँका। कोई दो छोटे जानवर बरगद की सूखी पत्तियों को रौंद-रौंदकर बैल की घात लगा रहे थे। बैल को भी देखा—संदेह था कहीं उस समय शेर उसको न घसीट ले गया हो जब सो रहे थे। बैल समूचा पड़ा था। शेर उसके पास नहीं आया था।

मैं कुछ क्षण ही इस तरह बैठा था कि सामने से शेर आता दिखलाई पड़ा। शेर के आने के पहले ही वे दोनों जानवर भाग गए। मैं जब लेटा था, मैंने अपनी राइफिल का तकिया बनाया था। शर्मा जी दुनाली बंदूक छाती पर रखे हुए सो रहे थे। मैं राइफिल को उठाने के लिए मुड़ नहीं सकता था।

मुड़ते ही मेरी गति को शेर देख लेता और भाग जाता, सारी कमी-कमाई मेहनत और लालसा व्यर्थ जाती। मैंने शर्मा जी की छाती पर से धीरे से दुनाली उठा ली। उनको जगाने का समय तो था ही नहीं। बंदूक के घोड़े चढ़े हुए थे और नालों में गोलियों के कार्तूस पड़े थे। परंतु मुझे अपनी राइफिल का अधिक भरोसा रहा है—लेकिन, उस मौके पर राइफिल उठाना मेरे लिए संभव न था। दुनाली लेकर मैंने बैल पर सीधी कर ली, झुक गया और एकाग्र दृष्टि से अपनी ओर आते हुए शेर को देखने लगा।

शेर बड़ी मस्त चाल से आ रहा था। बगल की पहाड़ी पर पतोखी बोली। अलसाते-अलसाते उठाते हुए अपने भारी पैंरों को शेर ने एकदम सिकोड़ा, बिजली की तरह गर्दन मरोड़ी, पीछे के पैरों पर सधा और जिस ओर से चिड़ियाँ बोली थीं एकटक देखने लगा। जब वह उस ओर से निश्चिंत हो गया तब मचान की ओर बढ़ा।

खरी चाँदनी में उसकी छोहें स्पष्ट 'दीख रही थीं। माथे पर सफेद भाल और छपके चमक रहे थे। भारी-भरकम सिर की बगलों में छोटे-छोटे कान विलक्षण जान पड़ते थे। शेर जरा-सा मुड़ा, तब उसके भयंकर पंजे और भयानक बाहु और कंधे दिखलाई पड़े। गर्दन जबरदस्त मोटी और सिर से पीठ तक ढालू। उसके पट्ठों को देखकर मन पर आतंक-सा छा गया। सोचा यदि बड़े-से-बड़ा खिसारा सुअर इससे भिड़ जाए तो कितनी देर ठहरेगा? परंतु सुअर इससे भिड़ जाता है और देर तक सामना भी करता है।

शेर फिर मचान के सामने सीधा हुआ। उसने मेरी ओर गर्दन उठाई। चंद्रमा के प्रकाश में उसकी आँखें जल रही थीं। वह टकटकी लगाकर मेरी ओर देखने लगा——और मैं तो आँख गड़ाकर उसकी ओर पहले से ही देख रहा था। एक क्षण के लिए मन चाहा कि गोली छोड दूँ, परंतु जंगल का शेर—और इतना बड़ा—जीवन में पहली बार देखा था, इसलिए उसको देखते रहने का लालच उमड़ा। कभी उसके सिर और कभी उसकी छाती को देखता था। ऐसी चौड़ी छाती जैसी किसी भी जानवर की न होती होगी।

शेर कई पल मेरी ओर देखता रहा। उसको संदेह था। वह जानना चाहता था कि मैं हूँ कौन। पर मैं अडिग और अटल था। उसको बाल बराबर भी हिलता नहीं देखा। जब शेर मेरा निरीक्षण कर चुका तब बैल के पास गया। उसने अपना भारी जबड़ा बैल के ऊपर रखा और दाढ़ें गड़ाकर

एक झटका दिया। एक ही झटके में कई आदमियों के बाँधे हुए बाँस के खपचे तड़ाक से टूट गए। दूसरी बार मुँह डालकर जो उसने झटका दिया तो बैल तीन-चार हाथ की दूरी पर जा गिरा। इस समय उसकी पीठ मेरी ओर थी। उसने बैल को एक और झटका दिया, बैल चार-पाँच डग पर जाकर गिरा। मुझको लगा अब यह चला। सबेरे जब मित्रगण इकट्ठे होंगे तब मेरी इस बात को कोई न सुनेगा कि मैं शेर की लोचों का अध्ययन कर रहा था—सब कहेंगे कि मैं डर गया। मैं मनाने लगा किसी तरह यह मेरे सामने अपनी छाती फेरे।

शेर ने कुछ क्षण के लिए मेरे सामने अपनी छाती की। बंदूक तो मिली हुई हाथ में थी ही। मैंने गोली छोड़ी। शेर ने काफी ऊँची उछाल लेकर गर्जन किया। शर्मा जी जाग उठे, उन्होंने भी सुना और देखा।

शेर ने नीचे गिरकर तुरंत एक तिरछी उचाट ली और आँख से ओझल हो गया।

हम लोग मचान से नहीं उतरे। बातें करते-करते सवेरा हो गया। हम लोगों के मचान से उतरने के पहले ही मित्र लोग वहाँ आ गए। आते हीं उन्होंने भूमि का निरीक्षण किया। जहाँ गोली चली थी वहाँ खून की एक बूँद भी न थी।

एक साहब बोले, 'गोली चूक गई।'

मैंने कहा, 'असंभव।'

नीचे उतरकर देखा, शेर के खून की बूँदें मिलीं। जरा आगे बढ़े कि हड्डी के टुकड़े, और आगे बढ़े तो खून की धार। परंतु हड्डियों के टुकड़े और रक्त की धार लगभग आध मील तक मिली। एक नाले में उसने पानी पिया और नाले के उस पार के जंगल में की लंबी घनी घास में विलीन हो गया। कई दिन बाद उसकी लाश सड़ी हुई मिली। गोली हँसुली की हड्डी पर पड़ी थी। चोट करारी थी, परंतु फिर भी वह इतनी दूर निकल गया।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक को शेर के शिकार में किस प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ी? संक्षेप में वर्णन कीजिए।

२ शेर के स्वभाव की विशेपताएँ बताइए।
३. इस पाठ के आधार पर विन्ध्यखंड के वन का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
४ निम्नलिखित प्रयोगों का भाव स्पष्ट कीजिए:
गायरा करना, अनी पर आना, बाट जोहना, उचाट लेना।
५. इस प्रकार की देखी, सुनी या पढ़ी हुई किसी अन्य घटना का वर्णन कीजिए।
६. इस पाठ को पढ़कर आपके मन में विशेष रूप से किस भाव का संचार होता है:-
कुतूहल, भय, उत्साह?

जवाहरलाल नेहरू

जवाहरलाल नेहरू का जन्म इलाहाबाद में सन् १८८९ ई० में हुआ था। इनके पिता स्वर्गीय पंडित मोतीलाल नेहरू अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में से थे, किन्तु गाँधी जी के आह्वान पर उन्होंने वकालत छोड़कर राष्ट्र-सेवा का व्रत ले लिया और अंत तक राष्ट्रीय स्वतंत्रता-संग्राम के प्रमुख सेनानी बने रहे। जवाहरलाल जी योग्य पिता के योग्य पुत्र थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही हुई। बाद की शिक्षा इंग्लैण्ड में हुई। सन् १९१२ ई० में ये बैरिस्टरी पास करके भारत लौटे और इलाहाबाद में वकालत करने लगे। किन्तु इनका राष्ट्र-प्रेम शीघ्र ही इन्हें स्वातंत्र्य-संग्राम की ओर खींच लाया। अपने उज्ज्वल व्यक्तित्व के बल पर शीघ्र ही ये महात्मा गाँधी के विश्वास-पात्र बन गए और देश के प्रमुख नेताओं में इनकी गणना होने लगी। सन् १९२९ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इन्हीं की अध्यक्षता में लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का संकल्प किया था। सन् १९६४ ई० में इनका स्वर्गवास हो गया।

नेहरू जी का कार्यक्षेत्र राजनीति तक ही सीमित नहीं था, ये उच्च कोटि के लेखक और साहित्यकार भी थे। इनके साहित्य का माध्यम प्रायः अंग्रेजी भाषा ही है। किन्तु इनकी सभी पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में भी उपलब्ध है। इनमें इतिहासकार, राजनीतिज्ञ, विचारक तथा साहित्यकार का अपूर्व संयोग है।

'मेरी कहानी' इनकी आत्मकथा है जिसे वस्तुतः केवल व्यक्ति की आत्मकथा न कहकर तत्कालीन राष्ट्रीय संघर्ष की कहानी कहा जा सकता है। 'विश्व इतिहास की झलक' और 'हिन्दुस्तान की कहानी' इतिहास की पुस्तकें हैं। 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' बाल-साहित्य की दृष्टि से बड़ी उपयोगी और प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके अतिरिक्त 'हिन्दुस्तान की समस्याएँ', 'स्वाधीनता और उसके बाद', 'राष्ट्रपिता', 'भारत की बुनियादी एकता', 'लड़खड़ाती दुनिया' आदि पुस्तकों में इनके लेखों और भाषणों का संग्रह है।

प्रस्तुत पाठ 'मेरी कहानी' से लिया गया है। इस ग्रंथ का अनुवाद श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया है। इसमें देहरादून-जेल में बंदी लेखक की वह कोमल भावना व्यक्त हुई है जो उसके मन में सामान्य पशु-पक्षियों के प्रति विद्यमान है। इससे इनकी भावुक प्रकृति का पता चलता है।
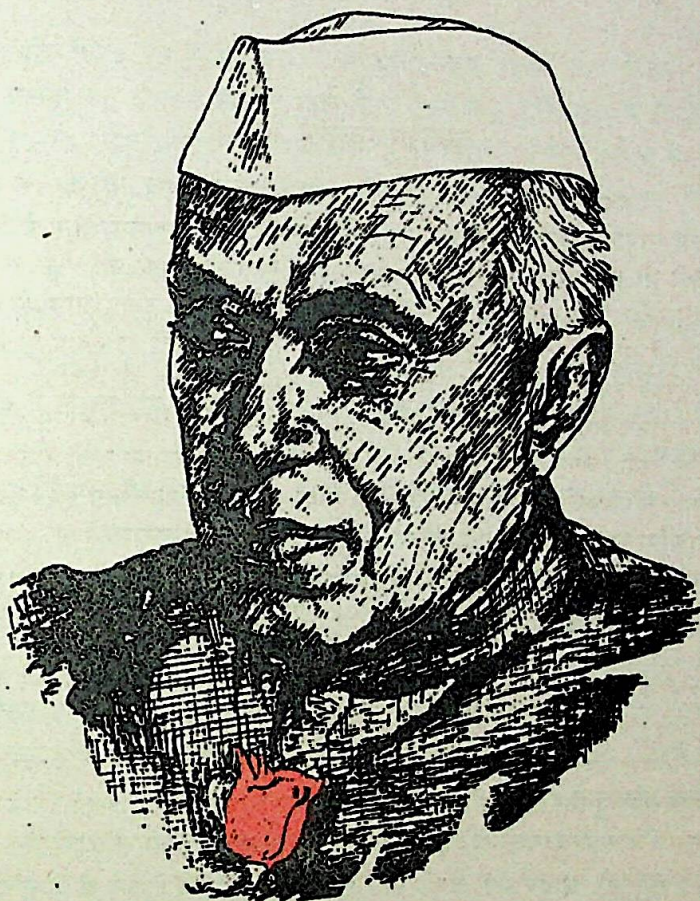
जवाहरलाल नेहरू

जेल में जीव-जंतु

कोई साढ़े चौदह महीने तक मैं देहरादून जेल की अपनी छोटी-सी कोठरी में रहा और मुझे ऐसा लगने लगा जैसे मैं उसीका एक हिस्सा हूँ। उसके प्रत्येक अंश से मैं परिचित हो गया। उसकी सफेद दीवारों और खुरदरे फर्श पर हरेक निशान और गड्ढे और उसके शहतीरों पर लगे घुन के छेदों से मैं परिचित हो गया था। बाहर के छोटे-से आँगन में उगे घास के छोटे-छोटे गुच्छे और पत्थर के टेढ़े-मेढ़े टुकड़े मेरे पुराने दोस्त-से लगते थे। मैं अपनी कोठरी में अकेला था, सो बात नहीं। क्योंकि, वहाँ कितने ही ततैयों और बर्रों के छत्ते थे और कितनी ही छिपकलियों ने शहतीरों के पीछे घर बना लिया था, जो शाम को अपने शिकार की तलाश में बाहर निकला करती थीं।

कोठरियाँ तो मुझे दूसरे जेलों में इससे अच्छी मिली थीं, मगर देहरादून में मुझे एक विशेष लाभ मिला था, जो मेरे लिए बेशकीमत था। असली जेल एक बहुत छोटी जगह थी और हम जेल की दीवारों के बाहर एक पुरानी हवालात में रखे गए थे। लेकिन थी यह अहाते में ही। यह इतनी छोटी थी कि उसमें आस-पास घूमने की कोई जगह न थी और इसलिए हमको सुबह-शाम फाटक के सामने कोई सौ गज तक घूमने की छुट्टी थी। हम रहते तो थे जेल के अहाते में ही, लेकिन उन दीवारों के बाहर आ जाने से पर्वतमालाओं, खेतों और कुछ दूर पर आम सड़क के दृश्य दिखाई पड़ जाते थे।

केवल एक कैदी ही, जो लंबे अर्से तक ऊँची-ऊँची दीवारों के अंदर कैद रहा हो, बाहर सैर करने और इन मुक्त दृश्यों के देखने के असाधारण मानसिक मूल्य को समझ सकता है। मैं इस तरह बाहर घूमने का बड़ा शौक रखता था और बारिश में भी मैंने इस सिलसिले को नहीं छोड़ा था, जबकि जोर से पानी की झड़ी लगती थी और मुझे टखने-टखने तक पानी में चलना पड़ता था। यों तो किसी भी जगह बाहर सैर करने का मैंने सदा ही स्वागत किया होता, लेकिन यहाँ तो अपने पड़ोसी गगनचुंबी हिमालय का मनोहर दृश्य और भी खुशी को बढ़ानेवाला था, जिससे कि जेल की उदासी बहुत-

कुछ दूर हो जाती थी। यह मेरी बहुत बड़ी खुशकिस्मती थी कि जब लंबे अर्से तक मैंने कोई मुलाकात नहीं की थी और जब कितने ही महीने तक अकेला रहा, तब मैं इन प्यारे सुहावने पहाड़ों को एकटक निहार सकता था। अपनी कोठरी से तो मैं गिरिराज के दर्शन नहीं कर सकता था, मगर मेरे मन में सदैव ही उसका ध्यान रहता था और वह हमेशा समीप ही मालूम होता था और जान पड़ता था कि मानो अंदर-ही-अंदर हम दोनों के बीच एक घनिष्ठता बढ़ रही है।

"पक्षी-गण ये उड़-उड़ ऊँचे निकल गए हैं कितनी दूर !
जलद-खंड भी इसी तरह वह नभ-पथ से हो गया विलीन ;
एकाकी मैं, सम्मुख मेरे पर्वतश्रृंग खड़ा है शांत—
मैं उसको, वह मुझे देखता दोनों ही हम थके कभी न।"

मै समझता हूँ कि इस कविता के रचयिता कवि ली ताई पो की तरह मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैं पर्वतराज को देखते हुए कभी नहीं थकता था। फिर भी यह एक असाधारण दृश्य था, और साधारणतया तो मैं उसकी निकटता से सदा बहुत सुख अनुभव करता था। पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढ़ाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशांत मन को सांत्वना देती थी।

देहरादून में वसंत ऋतु बड़ी सुहावनी लगी और नीचे के मैदानों की बनिस्बत ज्यादा समय तक रही। जाड़े ने प्रायः सब पेड़ों के पत्ते झाड़ दिए थे और वे बिलकुल नंग-धड़ंग हो गए थे। जेल के फाटक के सामने जो चार बड़े पीपल के पेड़ थे, उन्होंने भी, आश्चर्य तो देखिए, अपने करीब-करीब सब पत्ते गिरा दिए थे और पत्रविहीन तथा उदास होकर खड़े थे। परंतु अब वसंत ऋतु आई और उसकी जीवनदायिनी वायु ने उन्हें अनुप्राणित कर दिया, उनके एक-एक परमाणु को जीवन संदेश दिया। क्या पीपल और क्या दूसरे पेड़ों में, एक हलचल मच गई और उनके आसपास एक रहस्यमय वातावरण छा गया, जैसे परदे के अंदर छिपे-छिपे कोई प्रक्रिया हो रही हो, और एक दिन सहसा मैं तमाम पेड़ों पर हरे-हरे अंकुरों और कोंपलों को उझक-उझककर झाँकते हुए देखकर चकित रह गया। वह बड़ा ही उल्लासमय और आनंददायी दृश्य था। फिर बड़ी तेजी के साथ

उन पेड़ों में लाखों पत्ते निकल आए और वे सूर्य की किरणों में चमकने और हवा के साथ अठखेलियाँ करने लगे। एक अँखुए से लेकर पत्ते तक का यह रूपांतर कितना जल्दी और कितना आश्चर्यजनक होता है।

मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था कि आम के कोमल पत्ते पहले सुर्खी लिए गेहुएँ रंग के होते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कश्मीर के पहाड़ों पर शरद्ऋतु में हलके रंग की छाया छा जाती है; लेकिन जल्दी ही वे अपना रंग बदलकर हरे हो जाते हैं।

बारिश का वहाँ हमेशा ही स्वागत होता था, क्योंकि उससे ग्रीष्मकाल की गर्मी का अंत आ जाता था। लेकिन अच्छी चीज की भी आखिर हद होती है। बाद में वह भी अखरने लगती है। और देहरादून को तो मानो इंद्र देवता की प्रिय लीला-भूमि ही समझिए। बरसात शुरू होते ही पाँच हफ्तों तक ऐसी झड़ी लगती है कि कोई पचास-साठ इंच पानी बरस जाता और उस छोटी-सी तंग जगह में खिड़कियों से आती हुई बौछार से अपने को बचाते हुए सिकुड़-सिकुड़ कर बैठे रहना अच्छा नहीं लगता था।

हाँ, शरद्ऋतु में फिर आनंद उमड़ने लगता है और इसी तरह शिशिर में भी, उन दिनों को छोड़कर जबकि मेंह बरसता हो। एक तरफ बिजली कड़क रही है, दूसरी तरफ वर्षा हो रही है और तीसरी तरफ चुभती हुई ठंडी हवा बह रही है। ऐसी हालत में हर आदमी को उत्कंठा होती है कि रहने को एक अच्छी जगह हो, जिसमें सर्दी से बचाव हो सके और जरा आराम मिले। कभी-कभी बर्फ का तूफान आता और बड़े-बड़े ओले गिरते और वे टीन की छतों पर गिरते हुए बड़े जोर की आवाज करते, मानो दनादन तोपें छूट रही हों।

एक दिन मुझे खास तौर पर याद है। वह २४ दिसंबर, १९३२ का दिन था। बड़े जोर की बिजली कड़क रही थी और दिनभर पानी बरसता रहा। जाड़ा इतना सख्त कि कुछ मत पूछिए। शारीरिक कष्ट की दृष्टि से अपने सारे जेल-जीवन में मुझे बहुत कम ऐसे बुरे दिन देखने पड़े हैं। लेकिन शाम को बादल एकाएक बिखर गए और जब मैंने देखा कि पर्वत श्रेणियों पर और पहाड़ियों पर बर्फ-ही-बर्फ जमी हुई है तो मेरा सारा कष्ट न जाने कहाँ चला गया। दूसरा दिन—बड़ा दिन—बड़ा मनोरम और स्वच्छ था और बर्फ के आवरण में पर्वत-श्रेणियाँ बहुत ही सुंदर दिखाई देती थीं।

जब साधारण रोजमर्रा के कामों से हम रोक दिए गए तो हमारा ध्यान प्राकृतिक लीला के दर्शन की ओर ज्यादा गया। जो-जो जीवधारी या कीड़े-मकोड़े हमारे सामने आते, उनको हम ध्यान से देखते थे। अधिक ध्यान जाने पर मैंने देखा कि मेरी कोठरी में और बाहर के छोटे-से आँगन में हर-तरह के जीव-जंतु रहते हैं। मैंने मन में कहा कि एक ओर मुझे देखो जिसे अकेलेपन की शिकायत है, और दूसरी ओर उस आँगन को देखो जो खाली और सुनसान मालूम होता है, लेकिन जिसमें जीवन उमड़ा पड़ता है। ये तमाम किस्म के रेंगनेवाले, सरकनेवाले और उड़नेवाले जीवधारी मेरे काम में जरा भी दखल दिए बिना अपना जीवन बिताते थे, तो मुझे क्या पड़ी थी कि मैं उनके जीवन में बाधा पहुँचाता? लेकिन हाँ, खटमलों, मच्छरों और कुछ-कुछ मक्खियों से मेरी लड़ाई बराबर रहती थी। ततैयों और बर्रों को तो मैं सह लेता था। मेरी कोठरी में वे हजारों की तादाद में थे। हाँ, एक बार उनकी-मेरी झड़प हो गई थी, जबकि एक ततैए ने, शायद अनजान में, मुझे काट खाया था। मैंने गुस्सा होकर उन सबको निकाल देना चाहा, कोशिश भी की, लेकिन अपने चंदरोजा घरों को भी बचाने के लिए उन्होंने खूब डटकर सामना किया। छतों में शायद उनके अंडे थे। आखिर को मैंने अपना इरादा छोड़ दिया और तय किया कि अगर वे मुझे न छेड़ें तो मैं भी उन्हें आराम से रहने दूँगा। कोई एक साल तक उसके बाद मैं उन बर्रों और ततैयों के बीच रहा। मगर उन्होंने फिर कभी मुझपर हमला नहीं किया और हम दोनों एक-दूसरे का आदर करते रहे।

हाँ, चमगादड़ों को मैं पसंद नहीं करता था, लेकिन उन्हें मैं मन मसोसकर बर्दाश्त करता था। वे संध्या के अंधकार में चुपचाप उड़ जाते और आसमान की अँधेरी नीलिमा में उड़ते दिखाई पड़ते। वे बड़े मनहूस जीव लगते थे और मुझे उनसे बड़ी नफरत और कुछ भय-सा मालूम होता था। वे मेरे चेहरे से एक इंच की दूरी से उड़ते और हमेशा मुझे डर मालूम होता कि कहीं मुझे झपट्टा न मार दें।

मैं चींटियों, दीमकों और दूसरे कीड़ों को घंटों देखता रहता था और छिपकलियों को भी। वे शाम को अपने शिकार चुपके से पकड़ लेतीं और अपनी दुम एक अजीब हँसी आने लायक ढंग से हिलाती हुई एक-दूसरे को लपेटतीं। मामूली तौर पर वे ततैयों को नहीं पकड़ती थीं; लेकिन

दो बार मैंने देखा कि उन्होंने निहायत होशियारी और सावधानी से मुँह की तरफ से उनको चुपके से झपटकर पकड़ा। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने जान-बूझकर उनके डंक को बचाया था या वह एक दैवयोग था।

इसके बाद, अगर कहीं आसपास पेड़ हों,तो झुंड-की-झुंड गिलहरियाँ होती थीं। वे बहुत ढीठ और निःशंक होकर हमारे बहुत पास आ जातीं। लखनऊ जेल में मैं बहुत देर तक एक आसन बैठे-बैठे पढ़ा करता था। कभी-कभी कोई गिलहरी मेरे पैर पर चढ़कर मेरे घुटने पर बैठ जाती और चारों तरफ देखती। फिर वह मेरी आँखों की ओर देखती, तब समझती कि मैं पेड़ या जो कुछ उसने समझा हो वह नहीं हूँ। एक क्षण के लिए तो वह सहम जाती, फिर दुबककर भाग जाती। कभी-कभी गिलहरियों के बच्चे पेड़ से नीचे गिर पड़ते। उनकी माँ उनके पीछे-पीछे आती, लपेटकर उनका एक गोला बनाती और उनको ले जाकर सुरक्षित जगह में रख देती। कभी-कभी बच्चे खो जाते। मेरे एक साथी ने ऐसे तीन खोए हुए बच्चे सम्हालकर रखे थे। वे इतने नन्हे-नन्हे थे कि यह एक सवाल हो गया था कि उन्हें दाना कैसे दें। लेकिन यह सवाल बड़ी तरकीब से हल किया गया। फाउंटेनपेन के फिलर में जरा-सी रुई लगा दी। यह उनके लिए बढ़िया 'फीडिंग बोतल' हो गई।

अल्मोड़ा की पहाड़ी जेल को छोड़कर और सब जेलों में जहाँ-जहाँ मैं गया कबूतर खूब मिले और हजारों की तादाद में वे शाम को उड़कर आकाश में छा जाते थे। कभी-कभी जेल के कर्मचारी उनका शिकार करके उनसे अपना पेट भी भरते थे। और हाँ, मैनाएँ भी थीं। वे तो सब जगह मिलती हैं। देहरादून में उनके एक जोड़े ने मेरी कोठरी के दरवाजे के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया था। मैं उन्हें दाना दिया करता। वे बहुत पालतू हो गई थीं और जब कभी उनके सुबह या शाम के दाने में देर हो जाती तो वे मेरे नजदीक आकर बैठ जातीं और जोर-जोर से चीं-चीं करके खाना माँगतीं। उनके वे इशारे और उनकी वह अधीर पुकार देखते और सुनते ही बनती थी।

देहरादून में तरह-तरह के पक्षी थे और उनके कलरव, जोर-जोर से चिंचियाने, चहचहाने और टें-टें करने में एक अजीब समाँ बँध जाता था। और सबसे बढ़कर कोयल की दर्दभरी कूक का तो पूछना ही क्या!

बारिश में और उसके ठीक पहले पपीहा आता। सचमुच उसका लगातार 'पियू-पियू' रटना सुनकर दंग रह जाना पड़ता था। चाहे दिन हो चाहे रात, चाहे धूप हो चाहे मेंह, उसकी रटन नहीं टूटती थी। इनमें से बहुतेरे पक्षियों को हम देख नहीं पाते थे; सिर्फ उनकी आवाज सुनाई पड़ती थी, क्योंकि हमारे छोटे-से आँगन में कोई पेड़ नहीं था। लेकिन गिद्ध और चीलें बड़ी धज के साथ आसमान में ऊँची उड़तीं और उन्हें मैं देख सकता था। वे कभी एकदम झपट्टा मारकर नीचे उतर आतीं और फिर हवा के झोंके के साथ ऊपर चढ़ जातीं। कभी-कभी जंगली बतख भी हमारे सिर पर मँडराया करते थे।

बरेली-जेल में बंदरों की आबादी खासी थी। उनकी कूद-फाँद, मुँह बनाना आदि हरकतें देखने लायक होती थीं। एक घटना का असर मेरे दिल पर रह गया है। एक बंदर का बच्चा किसी तरह हमारी बैरक के घेरे के अंदर आ गया। वह दीवार की ऊँचाई तक उछल नहीं सकता था। वार्डर, कुछ नंबरदारों और दूसरे कैदियों ने मिलकर उसे पकड़ा और उसके गले में एक छोटी-सी रस्सी बाँध दी। दीवार पर से उसके (मैं समझता हूँ) माँ-बाप ने यह देखा और वे गुस्से से लाल हो गए। अचानक उनमें से एक बड़ा बंदर नीचे कूदा और सीधा भीड़ में उस जगह गिरा जहाँ कि वह बच्चा था। निस्संदेह यह बड़ी बहादुरी का काम था; क्योंकि वार्डर वगैरा सबके पास डंडे और लाठियाँ थीं, और वे उन्हें चारों तरफ घुमा रहे थे और उनकी संख्या भी काफी थी। लेकिन साहस की विजय हुई और मनुष्यों की वह भीड़ मारे डर के भाग निकली। उनके डंडे और लाठियाँ वहीं पड़ी रह गईं और बंदर अपना बच्चा छुड़ाकर ले गया।

अक्सर ऐसे जीव-जंतु भी दर्शन देते थे जिनसे हम दूर रहना चाहते थे। बिच्छू हमारी कोठरियों में बहुत आया-जाया करते थे। खासकर तब, जब बिजली जोरों से कड़का करती। ताज्जुब है कि मुझे किसी ने भी नहीं काटा, क्योंकि वे अक्सर बेढब जगह मिल जाया करते थे—मेरे बिछौने पर या कोई किताब उठाई तो उस पर भी। मैंने खासतौर पर एक काले और जहरीले-से बिच्छू को कुछ दिनों तक एक बोतल में रख छोड़ा था और मक्खियाँ वगैरा उसको खिलाया करता था। फिर मैंने उसे एक डोरे से बाँधकर दीवार पर लटका दिया। लेकिन वह किसी तरह
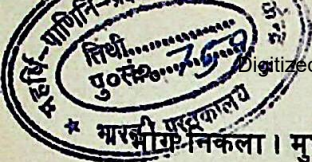
भाग निकला। मुझे यह ख्वाहिश नहीं थी कि वह फिर कहीं घूमता-फिरता मुझसे मिलने आ जाए, इसलिए मैंने अपनी कोठरी को खूब साफ किया और चारों ओर उसे ढूँढ़ा, मगर कुछ पता न चला।

तीन-चार साँप भी मेरी कोठरी में या उसके आस-पास निकले थे। एक की खबर जेल के बाहर चली गई और अखबारों में मोटी-मोटी लाइनों में छापी गई। मगर सच पूछिए तो मैंने उस घटना को पसंद किया था। जेल-जीवन यों ही काफी रूखा और नीरस होता है और जब भी किसी तरह उसकी नीरसता को कोई चीज भंग करती है तो वह अच्छी ही लगती है। यह बात नहीं कि मैं साँपों को अच्छा समझता हूँ या उनका स्वागत करता हूँ। मगर हाँ, औरों की तरह मुझे उनसे डर नहीं लगता, बेशक उनके काटने का तो मुझे डर रहता है और यदि किसी साँप को देखूँ तो उससे अपने को बचाऊँ भी, लेकिन उन्हें देखकर मुझे अरुचि नहीं होती और न उनसे डरकर भागता ही हूँ। हाँ, कनखजूरे से मुझे बहुत नफरत और डर लगता है। डर तो इतना नहीं, मगर उसे देखकर स्वाभाविक नफरत होती है। कलकत्ते के अलीपुर जेल में कोई आधी रात को मैं सहसा जग पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि कोई चीज मेरे पाँव पर रेंग रही है। मैंने अपनी टार्च दबाई तो क्या देखा कि एक कनखजूरा बिस्तर पर है। एकाएक और बड़ी तेजी से बिना आगा-पीछा सोचे मैंने बिस्तर से ऐसे जोर की छलाँग मारी कि कोठरी की दीवार से टकराते-टकराते बचा।

कैदियों की, खासकर लंबी सजावाले कैदियों की, भावनाओं को जेल में कोई भोजन नहीं मिलता। कभी-कभी वे जानवरों को पाल-पोसकर अपनी भावनाओं को तृप्त किया करते हैं। मामूली कैदी कोई जानवर नहीं रख सकता। नंबरदारों को उनसे ज्यादा आजादी रहती है और जेल के कर्मचारी उनके लिए ऐतराज नहीं करते। आमतौर पर वे गिलहरियाँ पालते हैं और सुनकर ताज्जुब होगा कि नेवले भी। कुत्ते जेल में नहीं आने दिए जाते, मगर बिल्ली को, जान पड़ता है, उत्साहित किया जाता है। एक छोटी पूसी ने मुझसे दोस्ती कर ली थी। वह एक जेल-अफसर की थी और जब उसका तबादला हुआ तो वह उसे अपने साथ ले गया। मुझे उसका अभाव कुछ दिनों खलता रहा। हालाँकि जेल में कुत्तों की इजाजत नहीं है, लेकिन देहरादून में इत्तिफाक से कुत्तों के

साथ भी मेरा नाता हो गया था। एक जेल-अफसर एक कुतिया लाए थे। बाद को उनका भी तबादला हो गया पर वह उसे वहीं छोड़ गए। बेचारी वे-घर की होकर इधर-उधर घूमती रही और पुलों और मोरियों में रहती हुई वार्डरों के दिए टुकड़े खाकर अपने दिन काटती रही। वह प्रायः भूखों मरती थी। मैं जेल के बाहर हवालात में रहता था। वह मेरे पास रोटी के लिए आया करती। मैं उसे रोज खाना खिलाने लगा। उसने एक मोरी में बच्चे दिए। कुछ तो और लोग ले गए मगर,तीन बच रहे और मैं उन्हें खाना देता रहा। इनमें से एक पिल्ली बीमार हो गई। बुरी तरह छटपटाती थी। उसे देखकर मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। मैंने बड़ी चिन्ता के साथ उसकी शुश्रूषा की और रात को कभी-कभी १०-१२ बार उठकर मुझे उसको सम्हालना पड़ता। वह बच गई और मुझे इस बात पर खुशी हुई कि मेरी तीमारदारी काम आ गई।

बाहर की अपेक्षा जेल में जानवरों से मेरा ज्यादा साबका पड़ा। मुझे कुत्तों का बड़ा शौक रहा है और घर पर कुछ कुत्ते पाले भी थे; मगर दूसरे कामों में लगे रहने की वजह से उनकी अच्छी तरह सँभाल न कर सका। जेल में मैं उनके साथ के लिए उनका कृतज्ञ था। हिन्दुस्तानी आमतौर पर घर में जानवर नहीं पालते। यह ध्यान देने लायक बात है कि जीव-दया के सिद्धांत के अनुयायी होते हुए भी वे अक्सर उनकी अवहेलना करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. पर्वतराज हिमालय के दर्शन से नेहरू जी के मन पर क्या प्रभाव पड़ा ?
२. इस पाठ के आधार पर वसंत के आगमन का अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।
३. जेल-जीवन में विभिन्न जीव-जंतुओं के संपर्क में लेखक को क्या अनुभव हुए—संक्षेप में लिखिए।
४. इस निबंध से तत्कालीन जेल-जीवन की स्थितियों पर क्या प्रकाश पड़ता है ?
५. इस पाठ के आधार पर श्री नेहरू की चरित्रगत और स्वभावगत विशेषताएँ बताइए।
६. निम्नलिखित वाक्य का भाव स्पष्ट कीजिए :
"पर्वतराज की दृढ़ता और स्थिरता मानो लाखों वर्षों के ज्ञान और अनुभव के साथ मुझे तुच्छ दृष्टि से देखती थी और मेरे मन के तरह-तरह के उतार-चढाव की दिल्लगी उड़ाती थी और मेरे अशांत मन को सांत्वना देती थी।"

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् १८६० ई० में वाराणसी के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था तथा इनकी मृत्यु सन् १६३७ ई० में हुई। इनके पिता श्री देवीप्रसाद 'सुँघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्होंने स्कूल में तो केवल आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की, किन्तु स्वाध्याय द्वारा हिन्दी, संस्कृत, पालि, उर्दू और अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास एवं पुरातत्व के ये विद्वान थे।

प्रसाद की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी जिसका ज्वलंत उदाहरण इनके काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी, निबंध आदि विविध रचनाओं में मिलता है। इनकी सबसे पहली कविता 'भारतेन्दु' में सन् १६०६ ई० में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात 'इंदु' नामक पत्रिका में, जिसका प्रकाशन इन्हीं की प्रेरणा से प्रारंभ हुआ था, इनकी कहानियाँ, कविताएँ, नाटक आदि प्रकाशित होते रहे। 'चित्राधार' में इनकी प्रारंभिक रचनाएँ संकलित हैं। इनकी प्रमुख गद्य-रचनाएँ निम्नलिखित हैं:

नाटक—'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'।

उपन्यास—'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' (अपूर्ण)।

कहानी-संग्रह—'आकाशदीप', 'इंद्रजाल'।

निबंध-संग्रह—'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'।

आधुनिक युग के निर्माताओं में प्रसाद का स्थान अन्यतम है। उनकी रचनाओं में, विशेष रूप से नाटकों में, प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित हुआ है।

प्रसाद की भाषा संस्कृतबहुला है। इनकी शब्दावली सरस तथा समृद्ध और शैली अलंकृत एवं चित्रात्मक है।

प्रस्तुत निबंध में प्रसाद ने प्रकृति-सौन्दर्य को ईश्वरीय रचना का एक अद्भुत एवं अनुपम उदाहरण माना है और उसके विविध रूपों की सुषमा का मनोहारी चित्र अंकित किया है।

'भारत का एक ब्राह्मण' चंद्रगुप्त नाटक का एक अंश है। इसमें प्रसाद जी ने प्राचीन भारत के एक ब्राह्मण के स्वाभिमान पूर्ण आदर्शों की एक झाँकी प्रस्तुत की है।
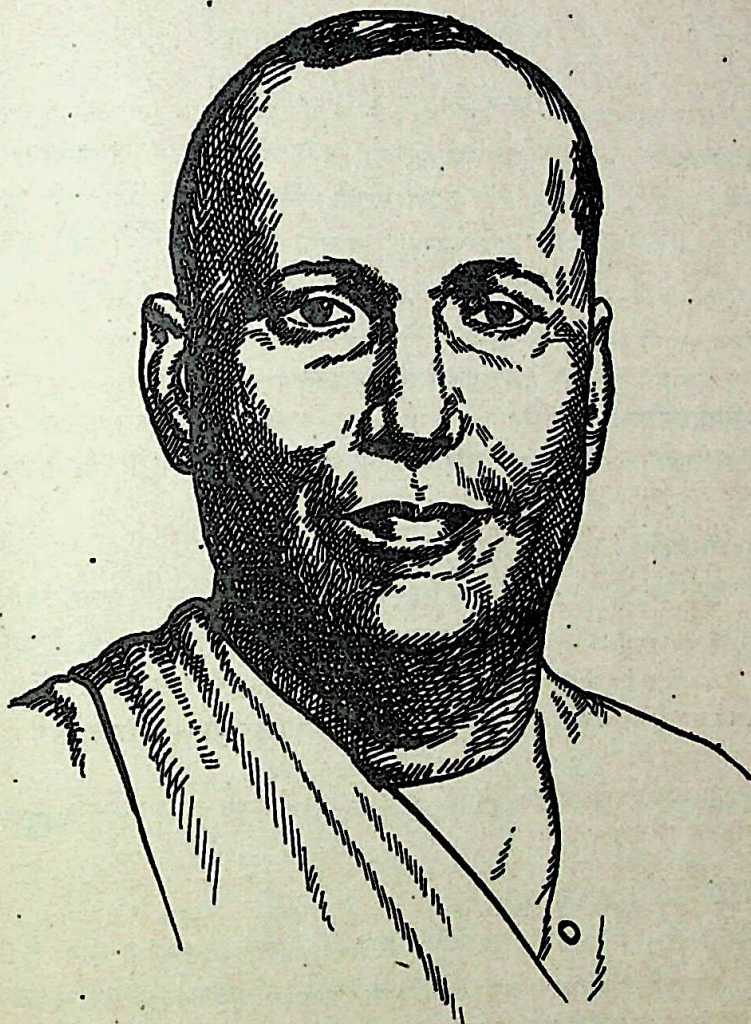
जयशंकर प्रसाद

भारत का एक ब्राह्मण

(सिन्धु तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम)

दाण्ड्यायन : पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिन्धु की जलधारा बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। ये सब और कुछ नहीं, केवल काल अनेक रूप में चल रहा है। यही तो......

(एनिसाक्रटीस का प्रवेश)

एनिसाक्रटीस : महात्मन् !

दाण्ड्यायन : चुप रहो, सब चले जा रहे हैं, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं, अवसर नहीं।

एनिसाक्रटीस : आपसे कुछ......

दाण्ड्यायन : मुझसे कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो, कोई किसी का सुनता है ? मैं कहता हूँ—सिंधु के एक विंदु ! धारा में न बहकर मेरी बात सुनने के लिए ठहर जा—वह सुनता है ? ठहरता है ? कदापि नहीं।

एनिसाक्रटीस : समझने की बात है, पर समझ में नहीं आती, परंतु देवपुत्र ने......

दाण्ड्यायन : देवपुत्र कौन ?

एनिसाक्रटीस : देवपुत्र जगद्विजेता सिकंदर ने आपको स्मरण किया है। आपका यश सुनकर आपसे कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

दाण्ड्यायन : (हँसकर) भूमा के सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास मात्र हो जाता है उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते, दूत ! वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक नहीं बन सकता। तुम्हारा राजा अभी

झेलम भी नहीं पार कर सका, फिर भी जगद्‌विजेता की उपाधि लेकर जगत् को वंचित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।

एनिसाक्रटीस : महात्मन् ! ऐसा क्यों ? यदि न जाने पर देवपुत्र दण्ड दें ?

दाण्ड्यायन : मेरी आवश्यकताएँ परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती है। उसके रहते दूसरों का शासन कैसा !
समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता,उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं। मैं फल खाकर अंजलि से जलपान कर तृण-शय्या पर आँख बंद किए सो रहता हूँ। किसी का कुछ लिया नहीं और अन्याय-अत्याचार से लेने की इच्छा भी नहीं। न मुझसे किसी को डर है और न मुझको डरने का कारण है। तुम यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतंत्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।

एनिसाक्रटीस : बड़े निर्भीक हो ब्राह्मण ! जाता हूँ, यही कह दूँगा। (प्रस्थान)।

(एक ओर से अलका, दूसरी ओर से चाणक्य और चंद्रगुप्त का प्रवेश। सब वंदना करके सविनय बैठते हैं।)

अलका : देव ! मैं गांधार छोड़कर जाती हूँ।

दाण्ड्यायन : क्यों अलके, तुम गांधार की लक्ष्मी हो, ऐसा क्यों ?

अलका : ऋषे ! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेचकर उनके दान से जीने की शक्ति मुझमें नहीं।

दाण्ड्यायन : तुम उत्तरापथ की लक्ष्मी हो, तुम अपना प्राण बचाकर कहाँ जाओगी ? (कुछ विचार कर) अच्छा जाओ, देवि ! तुम्हारी आवश्यकता है। मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाए रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते। परंतु जब तुम्हारी इच्छा हो, निस्संकोच चली आना।

अलका : देव, हृदय में एक संदेह है।

दाण्ड्यायन : क्या अलका ?

अलका : ये दोनों महाशय जो आपके सम्मुख बैठे हैं—जिन पर मेरा पूर्ण विश्वास था, वे ही अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते हैं ?

(दाण्ड्यायन चाणक्य की ओर देखता है और चाणक्य कुछ विचारने लगता है।)

चंद्रगुप्त : देवि ! कृतज्ञता का बंधन अमोघ है।

चाणक्य : राजकुमारी ! उस परिस्थिति पर आपने विचार नहीं किया है, आपकी शंका निर्मूल है।

दाण्ड्यायन : संदेह न करो, अलका ! कल्याणकृत को पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा। विश्वास सुफल देगा, दुर्गति नहीं।

(यवन सैनिक का प्रवेश)

यवन : देवपुत्र आपकी सेवा में आया चाहते हैं, क्या आज्ञा है ?

दाण्ड्यायन : मैं क्या आज्ञा दूँ, सैनिक ! मेरा कोई रहस्य नहीं, निभृत मंदिर नहीं, यहाँ पर सबका प्रत्येक क्षण स्वागत है।

(सैनिक जाता है)

अलका : तो मैं जाती हूँ, आज्ञा हो।

दाण्ड्यायन : कोई आतंक नहीं, अलका ! ठहरो तो।

चाणक्य : महात्मन्, हमलोगों को क्या आज्ञा है ? किसी दूसरे समय उपस्थित हों ?

दाण्ड्यायन : चाणक्य ! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था संतोषजनक नहीं।

(सिकंदर का सिल्यूकस, कार्नेलिया, एनिसाक्रटीस इत्यादि सहचरों के साथ प्रवेश, सिकंदर नमस्कार करता है, सब तृणासनों पर बैठते हैं।)

दाण्ड्यायन : स्वागत, अलक्षेन्द्र ! तुम्हें सुबुद्धि मिले।

सिकन्दर : महात्मन् ! अनुगृहीत हुआ, परंतु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिए।

दाण्ड्यायन : मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ। क्योंकि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे।

सिकंदर : हम आपके मुख से जय सुनने के अभिलाषी हैं।

दाण्ड्यायन : जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे, हत्या, रक्तपात और अग्निकाण्ड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनंद नहीं। विजय-तृष्णा का अंत पराभव में होता है, अलक्षेन्द्र, राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, विजयों से नहीं। इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगो।

सिकंदर : अच्छा ! (चंद्रगुप्त को दिखाकर) यह तेजस्वी युवक कौन है ?

सिल्यूकस : यह मगध का एक निर्वासित राजकुमार है।

सिकंदर : मैं आपका स्वागत करने के लिए अपने शिविर में निमंत्रित करता हूँ।

चंद्रगुप्त : अनुगृहीत हुआ। आर्य लोग किसी निमंत्रण को अस्वीकार नहीं करते।

सिकंदर : (सिल्यूकस से) तुमसे इनसे कब परिचय हुआ ?

सिल्यूकस : इनसे तो मैं पहले ही मिल चुका हूँ।

चंद्रगुप्त : आपका उपकार मैं भूला नहीं हूँ।

सिकंदर : अच्छा, तो आपलोग पूर्वपरिचित भी हैं। तब तो सेनापति, इनके आतिथ्य का भार आप ही पर रहा।

सिल्यूकस : जैसी आज्ञा।

सिकंदर : (महात्मा से) महात्मन् ! लौटती बार आपका फिर दर्शन करूँगा, जब भारत विजय कर लूँगा।

दाण्ड्यायन : अलक्षेन्द्र, सावधान ! (चंद्रगुप्त को दिखाकर) देखो यह भारत का भावी सम्राट् तुम्हारे सामने बैठा है।

(सब स्तब्ध होकर चंद्रगुप्त को देखते हैं और चंद्रगुप्त आश्चर्य से कार्नेलिया को देखने लगता है।)

(एक दिव्य आलोक)

(पटाक्षेप)

('चंद्रगुप्त' से)

प्रश्न और अभ्यास

१. एनिसाक्रटीस दाण्ड्यायन के पास क्या करने आया था ?
२. दाण्ड्यायन ने एनिसाक्रटीस का अनुरोध क्यों नहीं माना ?
३. अलका गांधार छोड़कर क्यों जाना चाहती थी ?
४. दाण्ड्यायन ने अलका को गांधार छोड़ने की अनुमति क्यों दी ?
५. सिकंदर विजेता होकर भी दाण्ड्यायन की कुटिया में क्यों आया ?
६. सिकंदर दाण्ड्यायन के मुँह से क्या सुनना चाहता था ?
७. सिकंदर ने चंद्रगुप्त को अपने शिविर में क्यों आमंत्रित किया ?
८. यदि आप सिकंदर के स्थान पर होते, तो दाण्ड्यायन की अंतिम बात सुनकर क्या करते ?
९. अपने को एनिसाक्रटीस मानकर इस पाठ का सारांश लिखें।
१०. 'नाटककार प्रसाद भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता के चारण हैं।' आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं और क्यों ?
११. इस पाठ के आधार पर दाण्ड्यायन के चरित्र की विशेषताएँ लिखें।
१२. इन वाक्यों के अर्थ स्पष्ट करें:
(क) समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है।
(ख) न मुझसे किसी को डर है और न मुझको डरने का कारण है।
(ग) मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाए रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते।
(घ) राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, विजयों से नहीं।

१३. निम्नलिखित शब्दों के विपरीतार्थक शब्द बताएँ :
कृतज्ञता, दुर्गति, सुबुद्धि, उपकार, आकर्षण।
१४. प्रयोग द्वारा इन शब्दों का अर्थ बताएँ :
जगद्विजेता, अभिभूत, उद्वेग, क्रीड़ा-कन्दुक, कल्याणकृत, अनुगृहीत।

चतुरसेन शास्त्री

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का जन्म बुलंदशहर जिले के अंतर्गत चांदोख ग्राम में सन् १८९१ ई० में हुआ था तथा इनकी मृत्यु सन् १९६० ई० में हुई। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल सिकंदराबाद में हुई थी। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ये घर से भागकर वाराणसी पहुँचे और वहाँ इन्होंने व्याकरण और साहित्य का अध्ययन किया। इसके पश्चात इन्होंने 'जयपुर संस्कृत कालेज' में आयुर्वेद और साहित्य का अध्ययन किया। फिर ये लाहौर के डी० ए० वी० कालेज में आयुर्वेद के अध्यापक नियुक्त हुए। परंतु अपने स्वच्छंद विचारों के कारण शीघ्र ही वहाँ से अलग होकर स्वतंत्र रूप से वैद्यक करने लगे।

शास्त्री जी बड़े ही कर्मठ और समर्थ लेखक थे। इनकी प्रकाशित रचनाओं की संख्या सौ से अधिक है और अनेक रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं।

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने धर्म, इतिहास, राजनीति, आयुर्वेद, रसायन, गृहविज्ञान, बालशिक्षा आदि अनेक विषयों के ग्रंथ लिखे हैं और गद्य की प्रायः सभी विधाओं का सफल प्रयोग किया है। हिन्दी-साहित्य में इनकी ख्याति कथा-साहित्य के कारण है। ऐतिहासिक आधार पर लिखी हुई इनकी कहानियाँ बहुत ही आकर्षक और सजीव हैं। इन कहानियों में चरित्र-विकास और रस-परिपाक दोनों की सिद्धि हुई है।

शास्त्री जी की गद्य-शैली प्रवाहपूर्ण, प्रांजल और सशक्त है। विषय के अनुसार शैली में विविधता का समावेश होता रहता है। कहानियों में कवित्व की छटा भी मिलती है। इनके गद्य-गीत मर्मस्पर्शी हैं।

प्रस्तुत पाठ लेखक के 'भारतीय संस्कृति का इतिहास' नामक ग्रंथ से लिया गया है। इसके द्वारा हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त उन अवशेषों का परिचय मिलता है, जिनसे हमारे देश की प्राचीनतम सभ्यता पर प्रकाश पड़ता है। पूर्ण रूप से तथ्यात्मक होने के कारण, यह विवरण इतिवृत्तात्मक शैली में लिखा गया है।
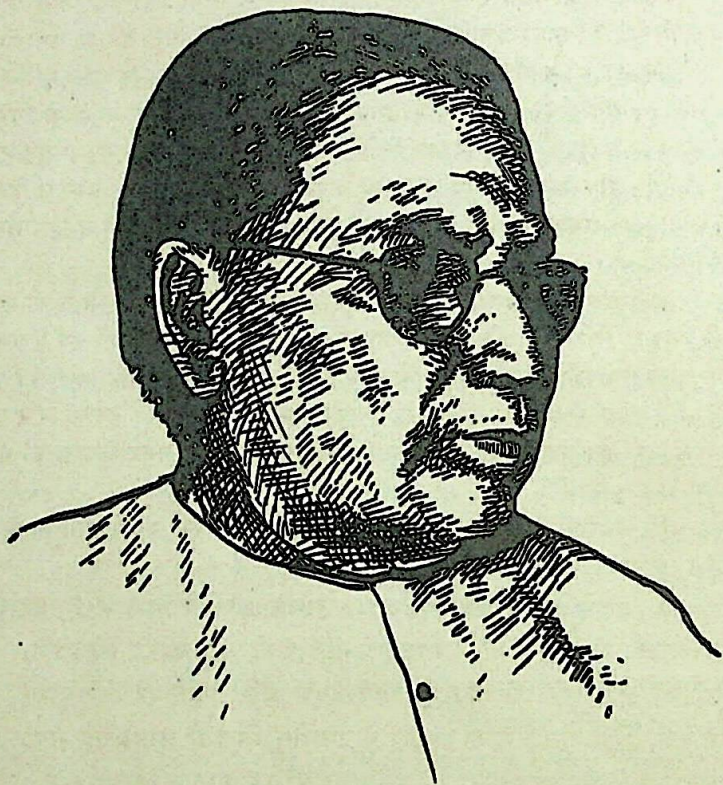
चतुरसेन शास्त्री

सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेष

[यह पाठ 'भारतीय संस्कृति के इतिहास' ग्रंथ से लिया गया है। सिन्धु घाटी में बहुत-से खेड़े हैं जिनपर शताब्दियों से प्रकृति के परिवर्तनों ने मिट्टी की तहें जमा दी थीं। इनकी खुदाई का कार्य तत्कालीन पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष सर जॉन मार्शल और उनके सहयोगी स्व० राखालदास बनर्जी तथा दयाराम साहनी आदि के निरीक्षण में हुआ। इस खुदाई में उन विशाल खेड़ों के नीचे जो अवशेष निकले हैं, उनसे प्रमाणित हुआ है कि पाँच-छह सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी में एक अत्यंत समुन्नत सभ्यता विकसित हुई थी। यह सभ्यता दक्षिण में काठियावाड़ और पश्चिम में मकरान से हिमालय तक फैली हुई थी।

अभी तक केवल चालीस खेड़ों की खुदाई हुई है। इस खुदाई में मिट्टी की कई तहें निकली हैं, जिनमें से प्रत्येक नीचेवाली तह ऊपरवाली तह से सैकड़ों वर्ष पुरानी है। पुरातत्त्व विशेषज्ञों का अनुमान है कि सबसे नीचेवाली तह लगभग छह सहस्र वर्ष पुरानी है। इस खुदाई में जिन दो बड़े नगरों के अवशेष मिले हैं उनके नाम हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि उस समय की नगर-निर्माण की योजना कितनी उत्कृष्ट थी।

कुछ अवशेषों का वर्णन इस पाठ में मिलेगा जिससे वहाँ की सभ्यता के विषय में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।]

आजकल सिन्ध का यह प्रदेश उजाड़ और रेगिस्तान है, परन्तु उस काल में संभवत: वहाँ रेगिस्तान नहीं था। यह घाटी हरे-भरे वनों, नदियों और हरे-भरे मैदानों से परिपूर्ण थी। यहाँ पर जो हाथी, गैंडा, भेड़िए, रीछ आदि अन्य पशुओं के अवशेष मिले हैं, उनसे यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इतिहास भी इस बात का समर्थक है। क्योंकि मसीह से पूर्व तीसरी शताब्दी में जब सिकंदर ने सिन्ध पारकर भारत पर आक्रमण किया था तब भी सिन्ध का बहुत-सा प्रदेश हरा-भरा था।

सिन्धु घाटी के निवासी जौ, गेहूँ और खजूर की पैदावार करते और उन्हीं का भोजन मुख्य तौर पर करते थे। गाय, भैंस, कुत्ता, हाथी, ऊँट, बकरा और सूअर पालते थे। वस्त्र बुनना और सूत कातना जानते थे। कमर से नीचे के भाग को भली भाँति ढँके रहते थे। चीते, गैंडे और बनैले सूअरों का शिकार करते थे। वे बहुत संख्या में जानवर पालते थे। इससे
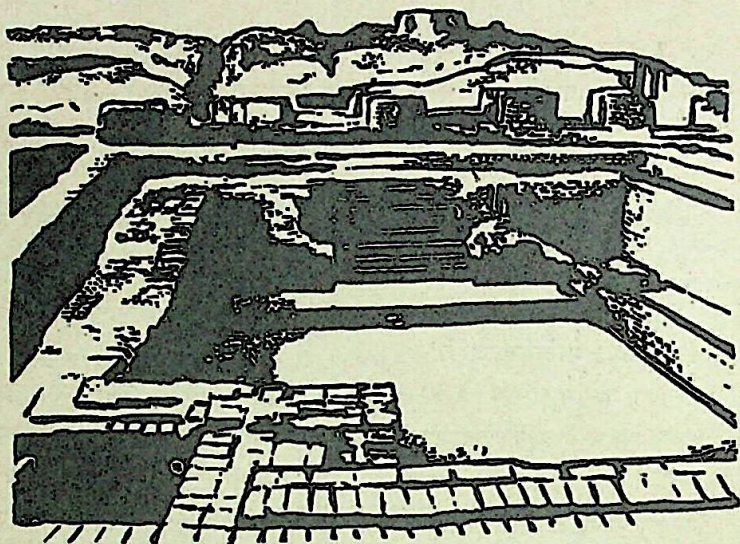
स्नानागार

यह भी प्रमाणित होता है कि उनके पास जल और चारे की कमी न थी। वे लोग स्नान तथा शृंगार के बहुत शौकीन थे। समय-समय पर मिल-जुलकर मेले-उत्सव करते थे। बच्चे मिट्टी के खिलौनों से खेलते थे, जो बहुत भारी संख्या में वहीं मिले हैं। इन खिलौनों में मिट्टी की गाड़ियाँ, जिनमें बैल जुते हैं, बहुत मिली हैं। कुछ खिलौने ऐसे भी मिले जिनका सिर हिलता है या हाथ-पैर पृथक् हैं। इन खिलौनों में बहुधा नीचे पहिए लगे हैं। वयस्क लोग पासे या चौसर खेलते थे। ये पासे चतुष्कोण मिट्टी और पत्थर के बहुत संख्या में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मिले हैं। कुछ पासे हाथी-दाँत के भी हैं। पासों पर संख्या लिखी है।

मिट्टी का खिलौना

नृत्यगान को भी वे महत्त्व देते थे। नर्तकियों की मूर्तियाँ मिली हैं।
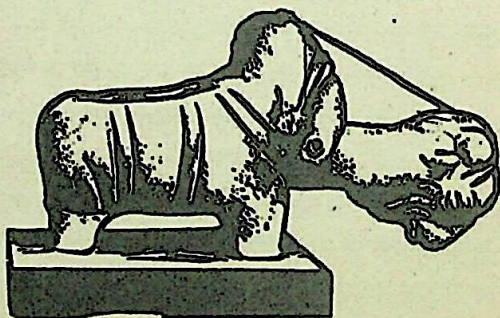
तबले और ढोल की उत्कीर्ण आकृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। तीर-कमान से बारहसिंगे का शिकार होता था। शेर का शिकार और तीतर-बटेरों की लड़ाई भी कराने के ये लोग शौकीन थे। पुरुष प्रायः दाढ़ी रखते थे, परंतु ऊपर के होंठ को साफ रखते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिली हुई जो मूर्तियाँ और आभूषण तथा काँसे और मिट्टी के जो बहुत-से नमूने हैं, उन्हें देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कारीगरी और कला-कौशल में वे अपने समय की सब जातियों में अग्रगण्य थे।

कातना व बुनना, मिट्टी के बर्तनों पर पालिश करना तथा दूर देशों से व्यापार संबंध स्थापित करना वे भली भाँति जानते थे और यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वे इन कामों में संसार की तत्कालीन सभ्य जातियों में सर्वाधिक सभ्य थे। सोना, चाँदी, हीरा, जवाहरात के अलंकार वे और उनकी स्त्रियाँ पहनती थीं। जानवरों की बहुतायत से यह बात प्रमाणित होती है कि उनके यहाँ जंगल बहुत थे और जल की भी कमी न थी। मोहरों और आभूषणों से प्रकट है कि उनकी कारीगरी बहुत ऊँचे दर्जे की थी। उन्होंने पत्थर और जस्ते से मनुष्य की मूर्तियाँ बनाई थीं।

मिट्टी के बर्तन बनाने की कला में यहाँ के लोग बहुत दक्ष थे। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में जो टूटे हुए बर्तन मिले हैं, वे कुम्हार के चाक पर बनाए गए हैं और उन्हें चित्रों व आकृति से निर्मित किया गया है। कुम्हार लोग पहिले चाक पर बर्तन बनाते और फिर उन पर कोई लेप चढ़ाकर उन पर पालिश करते थे। तब उन पर चित्रकारी की जाती थी। अंत में उन्हें वहीं पकाया जाता था। ये बर्तन अत्यंत सुंदर तो होते ही थे, अत्यंत मजबूत भी होते थे।

यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि ये लोग धातुओं के बर्तन और औजार उत्तम रीति से बना लेते थे। धातु में ताँबे का ही बाहुल्य होता था यद्यपि चाँदी, काँसा तथा सीसे का भी प्रयोग होता था। हड़प्पा की खुदाई में चाँदी के तीन बर्तन मिले हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि धनी लोग चाँदी के बर्तनों का उपयोग करते थे। ताँबे और काँसे के बर्तन तो भारी संख्या में मिले हैं जिनकी बनावट सुंदर और कलापूर्ण है।

ताँबे का प्रयोग अधिकतर औजारों के लिए ही किया गया है। यहाँ

ताँबे का एक कुल्हाड़ा मिला है जिसकी लंबाई ११ इंच है और वजन दो सेर के लगभग। इसमें लकड़ी के बेंट डालने का छेद भी है। इसकी आकृति वैसी ही है जैसी भारत में आज भी कुल्हाड़ों की होती है। इसी प्रकार ताँबे की एक आरी भी प्राप्त हुई है जिसका हत्था लकड़ी का है। इस आरी में दाँत बने हैं और इसकी लंबाई १६।। इंच है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि सिन्धु घाटी के निवासी अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व भी आरी का उपयोग करते थे; जबकि यूरोपीय सभ्यता में रोमन युग से पूर्व आरी को लोग जानते ही न थे।

हथियार भी ताँबे या काँसे के मिलते हैं। ये हथियार युद्ध और शिकार में काम आते होंगे। पत्थर काटने की छेनियाँ बहुत मिली हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि पत्थर काटने का शिल्प भी इस युग में उन्नति पर था। मछली पकड़ने के काँसे के काँटे तथा काँसे की अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुईं।

आरी की सत्ता प्राप्त होने से हम कह सकते हैं कि यहाँ बढ़ई का काम भी अच्छी तरह होता था तथा लकड़ी को काट तथा चीर कर उसका इमारतों तथा अन्य स्थानों में उपयोग होता था।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त कुछ मूर्तियाँ और मुद्राएँ तत्कालीन धर्म-संबंधी संकेत प्रकट करती हैं। एक पत्थर की मूर्ति मिली है जो केवल सात इंच ऊँची है और जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। इस मूर्ति में मनुष्याकृति को ऐसा चोंगा पहनाया हुआ है, जो बाएँ कंधे के ऊपर और दाईं भुजा के नीचे से गया है। चोंगे के ऊपर पुष्पाकृति बनी है। इस प्रकार की पुष्पाकृतियाँ मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में बहुत उपलब्ध हुई हैं। मूर्ति की आँखें मुँदी हुई और ध्यानमग्न दिखाई गई हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह मूर्ति किसी देवता की है और इसका संबंध वहाँ के धर्म से है। वह पुष्पाकृति भी कोई धार्मिक चिह्न है। मूर्ति की मूछें मुँड़ी हुई हैं, लेकिन दाढ़ी है। ऐसी ही आकृति की मूर्तियाँ प्राचीन सुमेरिया में भी उपलब्ध हुई हैं जिन्हें दैवी मूर्ति कहा जाता है।

मिट्टी की बनी हुई और पकाई हुई अनेक स्त्री मूर्तियाँ भी यहाँ से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों पर बहुत-से आभूषण हैं। परंतु वे प्रायः नग्न दशा में हैं। केवल कमर के नीचे जाँघों तक एक कपड़ा लपेटा

हुआ दिखलाया गया है और सिर की टोपी पंखे के आकार की है, जिसके दो ओर दो दीपक हैं। जिनमें संभवतः तेल या धूप जलाई जाती होगी। ये स्त्री मूर्तियाँ निस्संदेह पूजा के ही काम में आती थीं।

दुपट्टाधारी पुरुष

अनुमान से कहा जा सकता है कि सिन्धु घाटी के लोगों की आजीविका का आधार कृषि था। कृषि के द्वारा वे मुख्यतः गेहूँ और जौ की पैदावार करते थे, दूसरे अन्नों की भी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में खजूर की गुठलियाँ भी प्राप्त हुई हैं और मोहरों पर गाय, बैल, भैंस की आकृतियाँ अंकित हैं। इससे प्रमाणित होता है कि वे लोग इन पशुओं को बहुतायत से पालते थे और इनके घी, दूध और मांस का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार वे भेंड़, बकरी, हाथी, सूअर पालते थे, जो उनके निर्वाह में सहायक थे। संभवतः,इस युग में सिन्धु की घाटी में ऊँट नहीं था, किन्तु घोड़े और गधे थे।
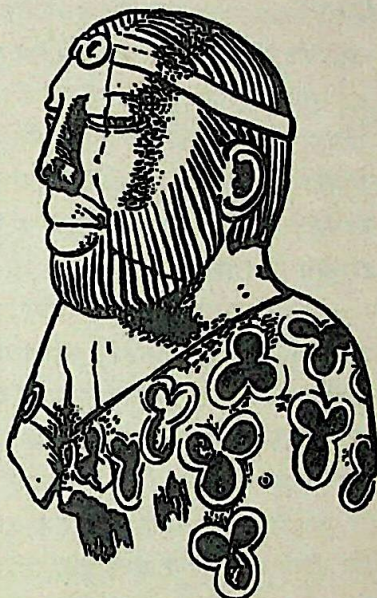
कपास की खेती करना और सूत कातना भी वे लोग जानते थे। मोहन-जोदड़ों के अवशेषों में एक सूती कपड़ा चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। यह कपड़ा खादी के समान है। अनुमान है कि सिन्धु घाटी में सूती कपड़ा बहुत तैयार होता था और वह सुदूर देशों में ले जाकर बेचा जाता था। पाश्चात्य देशों में उसकी बहुत कद्र व माँग थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े को सिन्धु कहते थे और ग्रीक भाषा में उसका नाम सिन्दन था। मोहनजोदड़ो में सूत लपेटने के काम आनेवाली बहुत-सी लड़ियाँ मिली हैं, जिससे यह पता लगता है कि वहाँ घर-घर सूत काता जाता था।

हड़प्पा में बहुत-से गोदामों के अवशेष मिले हैं, जिनमें अनाज एकत्र किया जाता था, और यहीं पीसने का प्रबंध था। गेहूँ और जौ के अतिरिक्त

राई और सरसों की खेती भी होती थी।

मोहनजोदड़ो की खुदाई में हाथीदाँत का बना हुआ एक फूलदान मिला है जो बहुत सुंदर है। हाथीदाँत के और भी टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनसे प्रमाणित होता है कि सिन्धु घाटी में हाथी विद्यमान थे।

सूती कपड़ों के निर्माण और व्यापार के लिए ये लोग दूर-दूर तक प्रसिद्ध थे ही, वे ऊनी और रेशमी कपड़ों का भी निर्माण करते थे। इन वस्त्रों पर फूल और अन्य आकृतियाँ काढ़ी जाती थीं और छपाई का काम भी होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्हार के बाद जुलाहे का शिल्प इस युग में उन्नत दशा में था।

सिन्धु-सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प भी बहुत विकसित था। स्त्री व पुरुष दोनों ही आभूषण पहनने के शौकीन थे। भग्नावशेषों में जो स्त्री व पुरुषों की मूर्तियाँ मिली हैं, वे सब आभूषण पहने हुए हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में बहुत-से आभूषण मिले हैं, जो ताँबे और चाँदी के बर्तनों में सजाकर रखे गए हैं। ये आभूषण मकान में फर्शों के नीचे गड़े हुए मिले हैं, जिन्हें कदाचित् सुरक्षा की भावना से जमीन में गाड़ा गया होगा। गहनों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा के एक मकान में फर्श से आठ फुट नीचे गड़ा हुआ मिला है। इसमें जो सोने के गहने और उनके टुकड़े मिले हैं, उनकी संख्या ५०० के लगभग है जिनमें बाजूबंद और हार से लेकर छोटे-छोटे मनके तक भी हैं। इसके अतिरिक्त मोहनजोदड़ो में भी अनेक लड़ियोंवाले हार, बाजूबंद, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि मिले हैं। कुछ आभूषणों में लाल, पन्ने व मूँगे का प्रयोग भी हुआ है। कुछ गहने चाँदी के हैं, कुछ हड्डी व मिट्टी के हैं।

सब बातों पर विचार कर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि सिन्धु घाटी में जो लोग रहते थे, उनके वाणिज्य-व्यापार का संबंध देश-देशांतर से था, क्योंकि जिन वस्तुओं के अवशेष वहाँ प्राप्त हुए हैं, वे सब वहाँ की पैदावार नहीं थीं, वे दूर देशों की लाई हुई थीं। सोना, चाँदी, ताँबा सिन्धु घाटी में नहीं पैदा होता था। संभवतः सोना, चाँदी, सीसा व टीन अफगानिस्तान और ईरान से प्राप्त करते थे। ताँबा खासतौर से राजपूताने से आता था और कीमती पत्थर बदख्शाँ से। सीप, कौड़ी और शंख काठियावाड़ के समुद्र तट से आती थीं। मूँगा, मोती आदि रत्न भी यहीं से आए थे।

यहाँ के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के टुकड़े भी मिले हैं, जो केवल हिमालय के अंचल में ही पैदा होते थे और कदाचित् वहीं से लाए जाते थे।

निस्संदेह यह तभी संभव हो सकता था, जब व्यापारियों की सुगठित श्रेणियाँ हों और यातायात के सुलभ साधन हों। व्यापारियों के ये सार्थ जल-थल,दोनों मार्गों से आते-जाते थे। जल-मार्ग में जहाजों, नावों और बेड़ों का उपयोग होता था और स्थल-मार्ग में घोड़ों, गधों और बैलगाड़ियों का। यहाँ प्राप्त एक मोहर पर जहाज की एक सुंदर आकृति मौजूद है और मिट्टी के एक टुकड़े पर भी जहाज का चिह्न बना हुआ है जिससे प्रमाणित होता है कि जहाजों और नावों से ये लोग परिचित थे। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो में बहुत-सी बैलगाड़ियों के खिलौने प्राप्त हुए हैं। हड़प्पा के खँडहरों में काँसे का बना हुआ एक छोटा-सा इक्का भी मिला है। हड़प्पा और चन्हूदड़ो में चार सौ मील का अंतर है। इतने अंतर पर के दो स्थानों में एक ही तरह के इक्कों का मिलना और इतनी अधिक संख्या में बैलगाड़ी की मूर्तियों का मिलना इस बात का प्रमाण है कि उस काल में यातायात और व्यापार के लिए इक्के और बैलगाड़ियों का प्रचलन था।

ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यता के लोग पश्चिमी मार्गों से व्यापार-संबंध रखते थे। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में हड़प्पा की मुद्राएँ मिली हैं जिनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान है। इसके विपरीत मोहनजोदड़ो में सुमेरियन मुद्राएँ मिली हैं। ईरान के प्राचीन भग्नावशेषों में भी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं जो सिन्ध देश की मान ली गई हैं। इन आधारों पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन देशों का परस्पर व्यापार-विनिमय अवश्य था। पुरातत्त्वविद् यह स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व तीसरी सहस्राब्दि में पश्चिमी एशिया के साथ सिन्ध का व्यापार-संबंध था।

सिन्ध की बस्तियों में पत्थर के बने हुए तोल के बहुत-से बाट मिले हैं, जो चौकोर घनाकार हैं। कुछ समय पूर्व तक भारत में एक सेर सोलह छटाँक में विभक्त था और आध पाव, एक पाव व आध सेर के बाट भारत में प्रयुक्त किए जाते थे। ऐसे ही बाट मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के ही अवशेषों में नहीं,सिन्धु घाटी की हजारों मील की फैली हुई सभ्यता में उपलब्ध हुए हैं। धातु की बनी हुई तराजुओं के भी टुकड़े मिले हैं।

जो मुद्राएँ इन दोनों नगरों में प्राप्त हुई हैं, उन पर किसी पशु, देवता या वृक्ष की प्रतिमा अंकित है। इनके लेख अभी तक नहीं पढ़े गए हैं। ये मुद्राएँ विक्रय पदार्थों पर छापा लगाने के काम में आती थीं। संसार की अन्य प्राचीन जातियों में भी ऐसी मुद्राओं का चलन था।
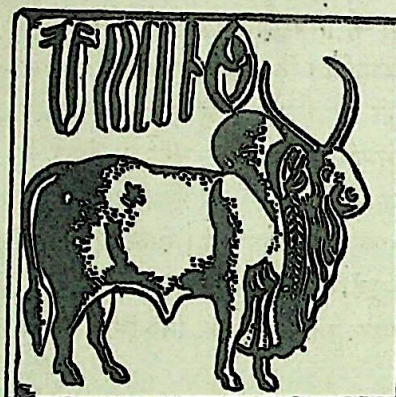
मुद्रा : १
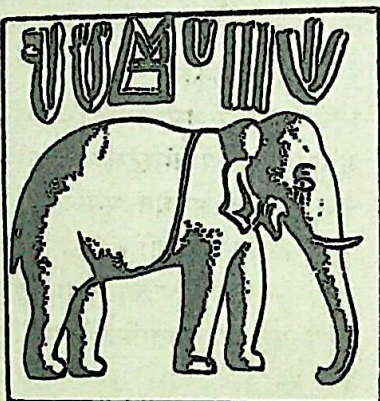
मुद्रा : २

सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं पर, ताम्रपट्टों पर और मिट्टी के बर्तनों पर जो उत्कीर्ण लेख प्राप्त हुए हैं, वे अभी तक ठीक-ठीक नहीं पढ़े गए हैं। कुछ विद्वानों ने यह दावा अवश्य किया है कि वे इन लेखों को पढ़ने में सफल हुए हैं। परंतु पुरातत्त्व के विद्वानों को यह दावा स्वीकार्य नहीं है।

चन्हूदड़ो में एक मिट्टी की दावात भी मिली है जिससे इस बात का आभास मिलता है कि वहाँ के निवासी लेखों को केवल उत्कीर्ण नहीं करते थे, स्याही से लिखते भी थे।

नगरों का निर्माण व्यवस्थित और योजना के आधार पर था और हजारों मील में फैले हुए इस प्रदेश में एक ही सी व्यवस्था और प्रबंध था, इससे यह अनुमान तो होता है कि कदाचित् उस काल में सिन्धु घाटी की यह सभ्यता एक साम्राज्य के रूप में शासित होती हो। सिन्ध, पंजाब, पूर्वी बिलोचिस्तान और काठियावाड़ तक विस्तृत इस सिन्धु सभ्यता में एक संगठन और एक शासन की सत्ता अवश्य होगी; क्योंकि इस विस्तृत

क्षेत्र में एक ही प्रकार के नापतोल के बटखरे, एक ही तरह का भवनों का निर्माण और एक ही तरह की मूर्तियाँ तथा एक ही तरह का प्रचार इस विशाल क्षेत्र की सभ्यता को एकरूपता प्रदान करता है।

निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सिन्धु-सभ्यता के ये निवासी किस नस्ल-जाति के लोग थे। जो अस्थिपंजर इन नगरों में उपलब्ध हुए हैं, उनसे पता लगता है कि यहाँ के निवासी भिन्न-भिन्न जातियों के थे। विद्वानों ने उन्हें चार नस्लों में विभाजित किया है—एक आदि आस्ट्रेलोयड, दूसरी भूमध्यसागरीय, तीसरी मंगोलियन और चौथी अलपाइन। अधिक अवशेष आस्ट्रेलोयड और भूमध्यसागर की नस्लों के मिले हैं। सबसे अधिक अवशेष भूमध्यसागरीय लोगों के हैं। मंगोलियन और अलपाइन जाति के लोगों की केवल एक-एक ही खोपड़ी यहाँ मिली है।

सिन्धु-सभ्यता का विनाश ईसा-पूर्व २००० वर्ष के लगभग हुआ और इससे पूर्व वह शताब्दियों तक संसार की सर्वाधिक विकसित सभ्यता बनी रही।

प्रश्न और अभ्यास

१. सिन्धु घाटी की सभ्यता का पता हमें किस प्रकार लगा ?
२. निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत सिन्धु घाटी-सभ्यता का वर्णन कीजिए:
   (क) खेती, (ख) पशुपालन, (ग) कारीगरी, (घ) औजार-हथियार, (ङ) मूर्ति-निर्माण, (च) खिलौने, (छ) मुद्राएँ।
३. सिन्धु घाटी के भग्नावशेषों से तत्कालीन नगर-योजना तथा भवन-निर्माण के संबंध में क्या पता लगता है ?
४. नीचे दिए शब्दों के अर्थ लिखिए तथा वाक्यों में उनका प्रयोग कीजिए:
   वयस्क, अग्रगण्य, आजीविका, अवशेष, यातायात, विनिमय, उत्कीर्ण, अस्थिपंजर।
५. निम्नलिखित शब्दों से संबद्ध संज्ञाएँ लिखिए:
   धार्मिक, विकसित, परिचित, व्यवस्थित, शासित, विस्तृत।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

पद्मभूषण राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह का जन्म शाहाबाद के सूर्यपुरा नामक स्थान में सन् १८९१ ई० में एक राज-परिवार में हुआ था। आपके पूज्य पिता राजा राज-राजेश्वरी प्रसाद सिंह ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उर्दू और फारसी की शायरी में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। उनका दरबार विद्वानों, कवियों और शायरों से सर्वदा भरा रहता था। इस प्रकार राजा साहब के बचपने में ही एक साहित्यिक परिवेश प्राप्त हुआ जो विश्वकवि रवीन्द्र नाथ के संपर्क से और भी अधिक प्रभावपूर्ण हो उठा।

संस्कृत, फारसी, अंगरेजी तथा हिन्दी का अध्ययन जो विद्वान शिक्षकों की देखरेख में घर पर ही प्रारंभ हुआ था, स्कूल-कालेज की शिक्षा के साथ क्रमशः और भी गहन और विस्तृत होता गया। इतिहास में एम० ए० पास कर रियासत की उलझनें सुलझाते हुए जब-तब कुछ लिख लिया करते थे। उनका यह कुछ भी बहुत कुछ होता था।

सन् १९३५ ई० में राजा साहब ने रियासत का भार अपने अनुज कुमार राजीवरंजन प्रसाद सिंह को सौंप दिया और स्वयं सरस्वती की एकांत साधना में संलग्न हो गए। आपका पहला बड़ा उपन्यास 'राम रहीम' समन्वित भाषा और ओज-प्रधान शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'राम रहीम' के बाद तो जैसे राजा साहब की लेखनी को पंख लग गए। प्रायः प्रत्येक साल नया-से-नया उपहार हिन्दी पाठकों के सामने आने लगा। यह क्रम अब तक अनवरत चल रहा है।

राजा साहब की दृष्टि अत्यंत उदार और पैनी है। प्रायः वास्तविक घटनाएँ इनके कथा-साहित्य का आधार होती हैं। राजा साहब उन वास्तविक घटनाओं पर कल्पना का ऐसा चोखा रंग चढ़ाते हैं, भाषा का ऐसा सतरंगी आवरण ओढ़ाते हैं और उन्हें शैली का ऐसा जगमगाता जेवर पहनाते हैं कि वह धूल से भरी दमक कर स्वर्ग की परी बन जाती है। राजा साहब को अपनी कृतियों के लिए सदा सम्मान मिलता रहा है। अब तक आपकी तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से प्रत्येक भाषा, शैली और वस्तु की दृष्टि से बेजोड़ हैं। कुछ पुस्तकें ये हैं—'कुसुमांजलि', 'नवजीवन', 'तरंग', 'राम-रहीम', 'गाँधी टोपी', 'सावनी समाँ', 'पुरुष और नारी', 'टूटा तारा', 'सूरदास', 'संस्कार', 'हवेली और झोपड़ी', 'चुंबन और चांटा', 'तब और अब', 'बिखरे मोती' इत्यादि।

प्रस्तुत कहानी 'दरिद्रनारायण' राजा साहब के मानवतावादी दर्शन की अन्यतम अभिव्यक्ति है। यहाँ आपने भूखे कंगालों की विराट् सेना में ईश्वर के विराट् रूप के दर्शन किए हैं और यह माना है कि कंगाल ही कलियुग में भगवान है।
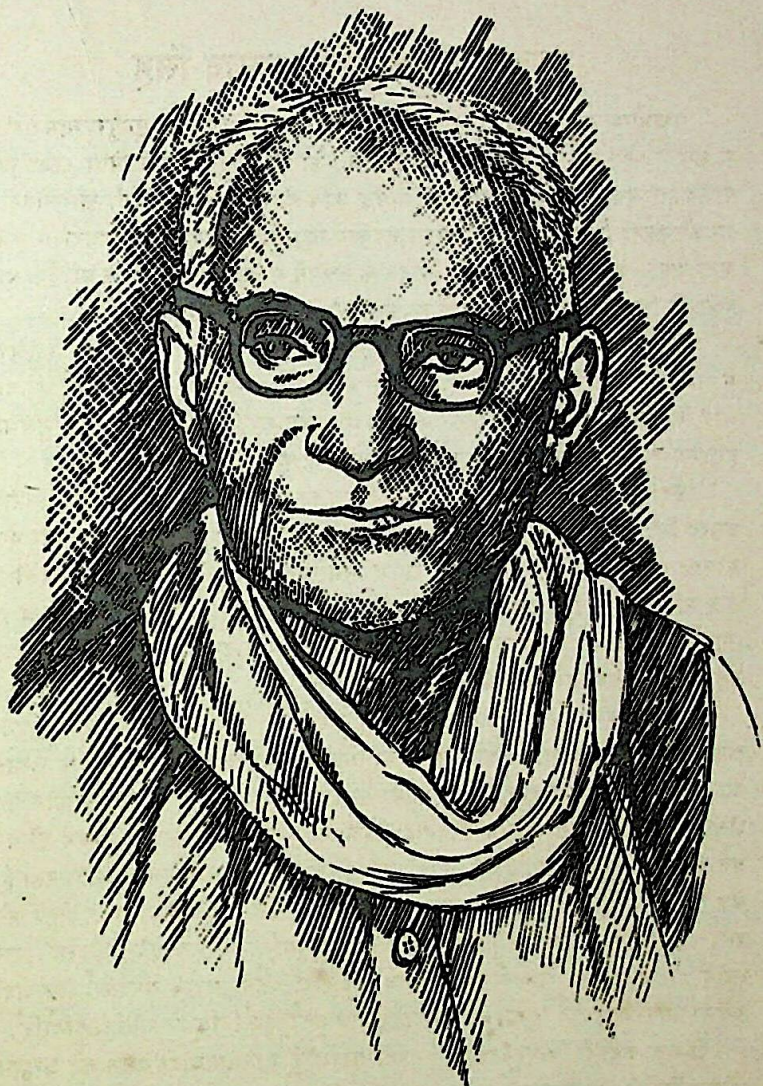
राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

दरिद्रनारायण

राजा की पलकों में नींद नहीं। मखमली सेज पर काँटे बिछ रहे थे। हजारों तरद्दुद सर पर थे। सिर चीरते-चीरते वे और भी सरकश हो गए—'उफ्! सर तो फटा जा रहा है—ताज किस पर रखूँ'?

वे उठ बैठे—"आखिर, इस सर-दर्द की कोई दवा भी है? कहीं पौ फटने से पहले सर न फट पड़े। मेरे राज के किस कोने से यह कराह की हवा उठी है, जो आह बनकर मेरी रूह में भर गई! आज ताज के तमाम हीरे बेकार हो गए—न मन पर चमक पाते हैं, न बदन पर। उनकी किरणों का जाल जंजाल हो गया। आह! इस भरे घर में शून्यता की बू कहाँ से भर आई?"

वे चुपचाप बाहर निकल आए।

× × × ×

राजा की सवारी जब फकीर की कुटिया पर पहुँची, पौ फट चुकी थी। इर्द-गिर्द फूलों की महक थी, डालों पर चिड़ियों की चहक।

उन्होंने देखा, आश्रम के चारों ओर प्रकृति पर एक पवित्र आभा टपक रही है। महल के गुम्बदों पर उषा के फव्वारे कुछ और हैं; कुटिया के छज्जे पर किरणों के करिश्मे कुछ और। चमन में फूल खिलते हैं, वन में हँसते हैं।

मंदिरों की घंटा-ध्वनि, राजद्वार की नौबत की शहनाई के सुर से मिलकर, मंगल मधु बिखेरने लगी।

महर्षि प्रसन्न-वदन चुप बैठे हैं। चेहरे पर तेज की ताजगी है।

राजा ने सामने जाकर हाथ जोड़े और गिड़गिड़ाकर कहा—"महाराज! यह ताज तो मेरे सर पर भार हो चला है।"

"सच?"—महर्षि ने हँसकर कहा—"तो इस ताज के तले मुँहताज की तायदाद तरक्की पर होगी! जो वजनी हीरे भार हो रहे हैं, उन्हें ताज से निकालकर वितरण कर दो।"

"हीरे! महाराज ये अममोल......?"

सी टपक रही है!

राजा ने अचकचाकर पूछा—"तुम कौन?"

"मैं वही हूँ, जिसकी तलाश में तुम तीर्थ की खाक छानते रहे।"

"तुम? . . . . . . भगवान? . . . . . . नहीं, नहीं तुम तो वही मनहूस कंगाल हो, जो तीर्थ-यात्रा के समय मेरे फाटक पर आकर . . . . . ."

"तुमने मुझे पहचाना नहीं। तुम्हारी आँखों पर चर्बी छाई हुई है। कंगाल ही कलियुग का कल्कि-अवतार है।"

"कैसे पहचानूँ? यह तो भगवान का शास्त्र-विहित रूप नहीं है। कहाँ हैं तुम्हारे शंख-चक्र?"

"इस युग में मेरा यही रूप है!"

"मगर इस रूप को कभी किसी ने देखा भी है?"

"क्यों नहीं? देखते तो सब हैं; मगर पहचानते हैं लाख में एक। भूल गए? गौतम ने तो इसी रूप पर ताज को उतारकर रख दिया था!"

"तो, फिर मंदिरों में जो मूर्ति हैं?"

"मेरे सच्चे भक्त मुझे प्रत्येक रूप में बराबर देखते हैं—किसी खास रूप में नहीं।"

"तो, फिर आपके पाने का उपाय?"

"मेरी सेवा।"

"मेरे दर्दे-दिल की दवा?"

"मेरे आशीर्वाद।"

"महाराज! तो क्या मैं भिखारी से भीख लूँ? वह दीन क्या देगा?"

"तुम न समझते हो, वह दीन है! मगर उसी की देन तुम्हारे सर पर ताज है। बलि ने भी वामन को दीन ही समझा था—रसातल चले गए! जिसे तुम अपना आश्रित समझते हो, उसी के तुम आश्रित हो। तुमने भगवान को भूखा रखा है, इसीलिए तुम्हें भूख नहीं। तुम उसके आशीर्वाद नहीं पाते, इसीलिए तुम्हारा अवसाद नहीं मिटता।"

"महाराज! काश, मुझे भूख होती, मेरी पलकों में नींद होती।"

"ताज के तले नींद! यह तो तभी मुमकिन है, जब ताज के तले त्याग हो—दिमाग नहीं। और भूख? भूखों के गिरोह के कमान को भूख कहाँ? तुम्हारी भूख तो तुम्हारी प्रजा खा गई।"

राजा चिन्ता में डूब गए ! उन्होंने गिड़गिड़ाकर कहा—"महाराज ! मैं जन को जनार्दन तो मान लूँ—नर को नारायण तो समझ लूँ; पर उसमें सर्वशक्तिमान की शक्ति तो नहीं मिलती।"

"दम धरो। तुमने इसका विराट रूप नहीं देखा है।"

राजा की आँखों के सामने वह मूर्ति अंतर्द्धान हो गई।

× × × ×

राजा लौट पड़े। किले के पास आकर देखा—चारों ओर भूखे-कंगाल की सेना विराट रूप धारण किए उमड़ पड़ी है। उनके हाहाकार के फुत्कार से किले के कँगूरे काँप उठे। इनकी तोपों के ताव में भी वे नहीं आते—इनकी फौज की मौज भी टकराकर लौट जाती है। वे बाढ़ की तरह बढ़े जा रहे हैं।

राजा ने विराट रूप-दर्शन पाए। वे सन्न हो गए।

उसी कलूटे कंगाल ने सामने आकर कहा—"अर्जुन ने अपने रथ के सारथि का विराट रूप जब देखा, तब उसे जाना—वह कोचवान नहीं, भगवान है। तुम्हारे रथ का सारथि तुम्हारी प्रजा है। देखो न, उसका विराट रूप !"

राजा ने सर से ताज उतार कर रख दिया,—"त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।"

प्रश्न और अभ्यास

१. इस कहानी के शीर्षक की सार्थकता पर अपने विचार दें।
२. 'दरिद्रनारायण' शीर्षक कहानी में लेखक ने समाज के सामने क्या आदर्श रखा है ?
३. राजा फकीर की कुटिया पर क्यों गए थे ?
४. राजा को सुखी बनाने के लिए महर्षि ने क्या सलाह दी ?
५. राजा ने महर्षि के आदेश का पालन किस रूप में किया ?
६. तीर्थ-स्थानों में पर्याप्त दान-पुण्य करने के बाद भी राजा को शांति क्यों नहीं मिली ?
७. राजा भगवान को किस रूप में देखना चाहते थे ?
८. भगवान ने राजा को किस रूप में दर्शन दिए ?
९. राजा ने भगवान के विराट रूप को देखकर क्या किया ?
१०. इस कहानी की कथा-वस्तु के आधार पर एक एकांकी की रचना करें।

११. निम्नलिखित पंक्तियों में सन्निहित भाव का विस्तार करें:
  (क) मखमली सेज पर काँटे बिछ रहे थे।
  (ख) चमन में फूल खिलते हैं, वन में हँसते हैं।
  (ग) कंगाल ही कलियुग का कल्कि अवतार है।
  (घ) तुम्हारी भूख तो तुम्हारी भूखी प्रजा खा गई।

१२. इस पाठ में अनेक मुहावरों का प्रयोग हुआ है। उन्हें चुनकर अपने वाक्यों में उनका प्रयोग करें।

१३. इस कहानी की भाषा और शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

१४. बिहार के किन्हीं तीन कहानी-लेखकों के नाम बताएँ। प्रत्येक की एक कहानी का सारांश लिखें।

विनोबा भावे

आचार्य विनोबा का पूरा नाम विनायक राव भावे है। इनका जन्म सन् १८९५ ई० में गंगोदा ग्राम (महाराष्ट्र) में हुआ था। ये बड़े मेधावी छात्र थे। विद्यार्थी-जीवन में इन्होंने गणित और संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। माता की प्रेरणा से इन्होंने आजीवन अविवाहित रहकर देश-सेवा का व्रत ले लिया।

विनोबाजी बहुत दिनों तक साबरमती आश्रम में महात्मा गाँधी के संपर्क में रहे। इनका जीवन सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर आधृत है। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा का सच्चा अनुयायी देखना हो तो विनोबा को देखो। महात्मा जी ने सन् १९४० ई० के व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए इन्हीं को पहला सत्याग्रही चुना था।

विनोबाजी का मूल जीवन-दर्शन है सर्वोदय। भूदान, ग्रामदान और संपत्तिदान के प्रचार द्वारा ये देश में एक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अपने इन्हीं सिद्धांतों के प्रचार के लिए, विगत बारह वर्षों से ये सारे देश में पद-यात्रा कर रहे हैं।

ये संस्कृत के गंभीर विद्वान हैं और अंग्रेजी, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। भारतीय दर्शन इनका प्रिय विषय है। ये गाँधीवादी विचारधारा के व्याख्याता हैं। इनकी भाषा इनके विचारों की अनुगामिनी है। इनके छोटे और सरल वाक्यों में चिन्तन तथा अनुभूति का बल रहता है।

विनोबाजी की शैली प्रवचन-शैली है। प्रवचन-शैली में वक्ता की यह चेष्टा होती है कि वह अपने विचार श्रोताओं के हृदय तक पहुँचा दे। वह भाषण की झड़ी नहीं लगाता, किन्तु बूँद-बूँद करके अपने विचार देता है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

इनकी प्रमुख पुस्तकें निम्नांकित हैं:—(१) विनोबा के विचार (दो भाग), (२) स्वराज्य-शास्त्र, (३) गीता-प्रवचन, (४) ईशावास्यवृत्ति, (५) सर्वोदय विचार, (६) भू-दान-यज्ञ, (७) जीवन और शिक्षण, (८) स्थितप्रज्ञ दर्शन।

प्रस्तुत पाठ विनोबा जी की पुस्तक 'जीवन और शिक्षण' से लिया गया है। विनोबाजी की विचार-पद्धति गीता-दर्शन से प्रभावित है। गीता के अनुसार हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं किन्तु फलप्राप्ति ईश्वर पर निर्भर है। इसी गंभीर विचार की विनोबाजी ने सरल और सहज शैली में व्याख्या की है।
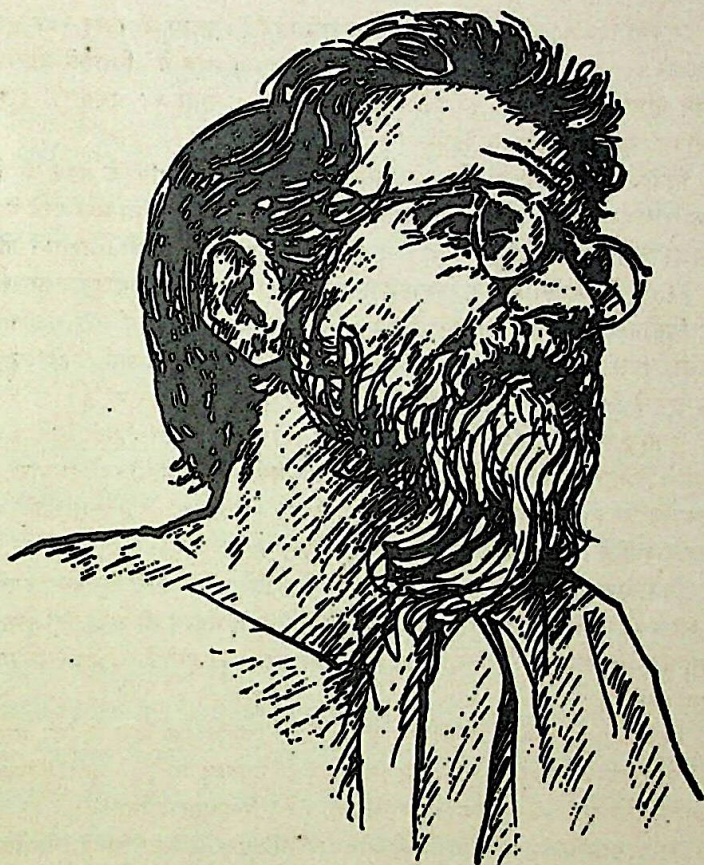
विनोबा भावे

प्रार्थना

ओम् असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।।

हे प्रभो, मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अंधकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

इस मंत्र में हम कहाँ हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहाँ जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्य में हैं, अंधकार में हैं, मृत्यु में हैं। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमें सत्य की ओर जाना है, प्रकाश की ओर जाना है, अमृतत्व को प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा', ईश्वर से यह प्रार्थना करने के मानी हैं, 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का बराबर प्रयत्न करूँगा', इस तरह की एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता। यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूँ अथवा विरुद्ध दिशा में जाता हूँ, और जबान से 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूँ तो इससे क्या मिलने का ? नागपुर से कलकत्ते की ओर जानेवाली गाड़ी में बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्य से सत्य की ओर ले चलने की प्रार्थना करनी हो तो असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करने में यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्य से सत्य की ओर करूँगा और अपनी शक्तिभर सत्य की ओर जाने का भरपूर प्रयत्न करूँगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मैं प्रयत्न करनेवाला हूँ। पर फल मेरी मुट्ठी में थोड़े ही है। फल तो ईश्वर की इच्छा पर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूँगा ?

मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वर की सहायता के बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूँ ? मैं सत्य की ओर अपने कदम बढ़ाता रहूँ तो भी ईश्वर की कृपा के बिना मैं मंजिल पर नहीं पहुँच सकता। मैं रास्ता काटने का प्रयत्न तो करता हूँ, पर अंत में मैं रास्ता काटूँगा कि बीच में मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बलबूते मैं मंजिल पर पहुँच जाऊँगा, यह घमंड फिजूल है। काम का अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वर के हाथ में है। इसलिए प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर की प्रार्थना आवश्यक है। प्रार्थना के संयोग से हमें बल मिलता है। यों कहो न कि अपने पास का संपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है।

प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय है। दैववाद में पुरुषार्थ को अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवाद में निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है। फलतः दोनों ग्रहण नहीं किए जा सकते। किन्तु दोनों को छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववाद में जो नम्रता है, वह जरूरी है। प्रयत्नवाद में जो पराक्रम है, वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्त-संगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीता में सात्विक कर्ता का यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थना का रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्य में से सत्य में ले जा' इस प्रार्थना का संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्य में से सत्य की ओर जाने का, अहंकार छोड़कर उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूँगा।' यह अर्थ ध्यान में रखकर हमें रोज प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—हे प्रभो, तू मुझे असत्य में से सत्य में ले जा। अंधकार में से प्रकाश में ले जा। मृत्यु में से अमृत में ले जा।

प्रश्न और अभ्यास

१. 'प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती' इस कथन की व्याख्या कीजिए।
२. प्रार्थना में दैववाद और प्रयत्नवाद का समन्वय किस प्रकार होता है ? समझाकर लिखिए।
३. प्रार्थना का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है ?
४. इस पाठ में 'असत्य', 'अंधकार' और 'मृत्यु' शब्दों का प्रयोग किन अर्थों में हुआ है ?

५. प्रस्तुत पाठ से कुछ ऐसे स्थल चुनिए जिनमें प्रवचन-शैली की विशेषताएँ मिलती हैं।

६. अर्थ स्पष्ट कीजिए:

(क) "अपने पास का संपूर्ण बल काम में लाकर और बल की ईश्वर से माँग करना, यही प्रार्थना का मतलब है।"

(ख) "प्रयत्नवाद की प्रतिज्ञा के बिना प्रार्थना का कोई अर्थ ही नहीं रहता।"

सियारामशरण गुप्त

श्री सियारामशरण गुप्त का जन्म सन् १८९५ ई० में चिरगाँव, जिला झाँसी (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। सन् १९६३ ई० में दिल्ली में इनका देहांत हुआ। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के ये छोटे भाई थे। इनकी प्रतिभा को आरंभ से ही साहित्यिक वातावरण में विकसित होने का अवसर मिला।

सियारामशरणजी की प्रतिभा बहुमुखी है। इन्होंने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि प्रायः सभी साहित्यिक विधाओं में उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। 'गोद', 'नारी', 'अंतिम आकांक्षा' इनके अन्य उपन्यास हैं। 'पुण्यपर्व' और 'उन्मुक्त' (गीति-नाट्य) नाटक हैं। 'मानुषी' कहानी-संग्रह और 'झूठ-सच' निबंध-संग्रह है।

महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व और दर्शन का सियारामशरणजी पर गहरा प्रभाव था जो इनके साहित्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वास्तव में गाँधीवादी विचारधारा के ये अन्यतम कलाकार हैं। स्वाध्याय, निरीक्षण और चिन्तन से इनकी रचनाओं में निरंतर निखार आता गया।

'झूठ-सच' संकलन में भावात्मक, विचारात्मक आदि कई प्रकार के निबंध संगृहीत हैं जिनमें कुछ व्यक्तिपरक संस्मरण भी हैं। इन निबंधों में वर्ण्य विषय की विविधता भी पर्याप्त रूप से पाई जाती है; इनमें कुछ निबंध ऐसे हैं जिनमें कथा और निबंध के शैली-तत्त्वों का सुंदर समन्वय मिलता है।

गुप्तजी की भाषा सरल और काव्यमयी है। इनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही इनका शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास सहज एवं अकृत्रिम है।

प्रस्तुत पाठ 'कवि-चर्चा' का मूल भाव यह है कि छोटे-से-छोटा कवि भी अपने सीमित क्षेत्र में जनता का अनुरंजन करता है। बड़े और छोटे कवि में वही अंतर है जो समुद्र और कुएँ में; पर दोनों ही कल्याणकारी हैं।
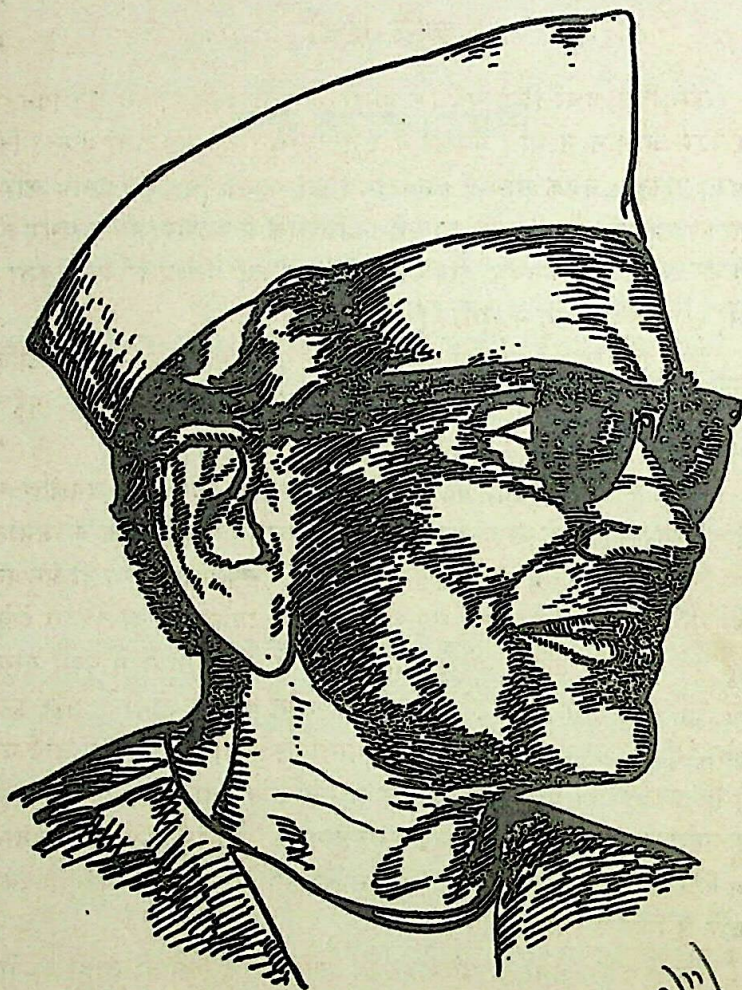
सियारामशरण गुप्त

कवि-चर्चा

उस दिन चर्चा छिड़ गई कि हमारे गाँव में कवि कितने हैं। गिनती का काम आसान न था। मंडली में कोई ऐसा न था जो दावा करता कि उसका परिचय सबके साथ है। एक मित्र को कहना पड़ा, सबके सब चोर-डाकुओं को पुलिस भी नहीं जानती। जेलखाने में आकर जो उजागर हो गए हैं, उन्हीं को गिनकर ठीक-ठीक नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जैसी बात इनके विषय में, वैसी ही कवियों के विषय में।

फिर भी, मित्र लोग एक परिणाम पर पहुँच गए। आबादी का प्रति सैकड़ा एक-बटा-दो कवि था। स्त्रियों के अन्तःकरण तक हमारी पहुँच न थी, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा।

इतने अधिक कवियों की उपस्थिति से वहाँ किसी को प्रसन्नता न हुई। जान पड़ा, जैसे उन्हें बहुत पीछे खिसकाकर राजा भोज के जमाने में पहुँचा दिया गया हो। सामयिक पत्रों को देखकर भी उन्हें ऐसा ही अनुभव हुआ था। नए-नए कवि, नए-नए छंद, नए-नए विषय। कहाँ तक वे देखें, कहाँ तक वे पढ़ें। उनका मतलब यह न था कि इन कवियों में पढ़ने योग्य कुछ नहीं मिलता। कविताएँ हैं तो पढ़ने योग्य क्यों न होंगी ? और इन्हें पढ़ना भी चाहिए। न पढ़ने से कवि अपमानित होता है। पर कठिनाई यह थी कि जिसे देखो वही कवि बनकर सामने आना चाहता है। सभी कवि हो जाएँगे तो कविता लिखी किसके लिए जाएगी ? सभी के सभी परोसनेवाले बन बैठेंगे, तो आहार करनेवाला कहाँ से आएगा ? इतनी अधिकता देखकर हमारे वे मित्र घबराने लगते हैं।

किसी को कितनी ही घबराहट हो, कविताएँ लिखी ही जाती रहेंगी। वे बंद न होंगी। आकाश में जब बादल घुमड़ते हैं, तब अपने आप ही घुमड़ते हैं। यह देखना उनका काम नहीं कि नीचे खेत में कोई बीज उनके स्वागत की तैयारी कर रहा है अथवा नहीं। अवसर आया और खेत का बीज अपने आप अंकुरित हो उठता है। अंकुरित वह हो क्यों नहीं ? यह सोचकर रुके रहना उसके वश के बाहर है कि कोई उसे देखने आता है अथवा नहीं

आता है। इसी तरह अन्न का पौधा जब नई-नई बालों से भर जाता है, तब वह भी मीमांसा करने नहीं बैठता कि आजकल लोगों के हाजमे का क्या हाल है। बाजार की तेजी-मंदी के तार मँगाने की बात उसके जी में नही उठती। उसे तो भर जाना है, नई-नई बालों से ऊपर तक भर जाना है। यह सब अपने आप होता है। पुरवाई हवा बहती है, बादल उमड़ते हैं, आकाश में इंद्रधनुष आभूषित होता है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें पड़ती हैं, और तब अपने आप ही कंठ का स्वर भी फूट उठता है। इस स्वर में शीतलता हो सकती है पुरवाई हवा की, सघनता हो सकती है बादल की, शोभा हो सकती है इंद्रधनुष की और नृत्यभंगी हो सकती है उन बूँदों की। सब कुछ उसका बाहर से लिया हो सकता है। उसका अपना कुछ न हो यह असंभव नहीं। तब भी कंठ फूट न पड़े तो क्या करे? प्रकृति के साथ उसका ऐसा ही निजता का संबंध है। यह टूट नहीं सकता। नर और नारी के आकर्षण की भाँति यह अपने आप प्रकट हो पड़ता है।

और सच तो यह है, जितने मनुष्य हैं, उतने ही कवि। बच्चे में मनुष्य की तरह कवि भी निहित रहता है। देखते हैं, बच्चा रोता हुआ पैदा होता है। आगे चलकर उसका रोना शब्दों में बदलता है। कुछ आगे चलकर शब्द भाषा का रूप धरते हैं और इसके भी आगे बढ़ने की बात जब आती है, तब भाषा में कवित्व फूटता है। फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता; एक जगह जो बच्चा है, दूसरी जगह वही कवि।

मानना पड़ेगा, जितने बोलनेवाले हैं, सबके सब वक्ता नहीं होते, वक्ता होने का मौलिक गुण ही उनमें रहता है। इसी नियम के अनुसार सबके जीवन में कवि का रूप प्रकट नहीं होने पाता। प्रकट हो सकता है, इतनी बात है। कागज लिखने के लिए बनता है, यह कौन नहीं मानेगा? फिर भी कुछ कागज जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं, कुछ रद्दी में चले जाते हैं; कुछ ऐसे भी हैं जिनका उपयोग दवा की पुड़ियों में हो जाता है। पर इसके लिए हमें अपनी सराहना करनी चाहिए कि हम कोरे कागज ही बनकर इस दुनिया में नहीं आते। हम कुछ अधिक हैं, अर्थात् मनुष्य हैं।

मनुष्य होने के कारण ही जीवन को हम अपार में, अनंत में, फैला हुआ देखना चाहते हैं। हमारी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ की, हमारा शरीर मांसल, हमारे हाथ-पैर मजबूत—इन्हीं सब बातों को लेकर हम चुप नहीं

रह सकते। समस्त की, संपूर्ण की, निश्शेष की अनुभूति अपने में किए बिना हमारी तृप्ति नहीं होती। जब तक हम अपने को सब ओर फैला न देंगे, तब तक हमारा मनुष्यत्व अधूरा रहेगा। इस अधूरेपन से निकलकर पूरे होने की चाहना में ही कवित्व का उदय है। हममें से कौन है, जिसके भीतर इसकी अखंड धारा प्रवाहित न हो ? पृथ्वी में एक बित्ता जमीन ऐसी नहीं, जिसके तल में अथाह समुद्र नहीं पाया जाता। इसी तरह संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसके भीतर कवित्व का यह अगाध रस लहराता नहीं मिलता। जितने काव्य, जितनी कविताएँ, अब तक लिखी गई हैं, वे सब उसके सामने नगण्य हैं। ऐसी हैं, जैसे किसी अगाध में से कोई छोटा सोता फूट निकला हो।

पर शरीर से मनुष्य ससीम है। वह उसी के लिए बैठा रहे और शेष जो कुछ है उससे निज को विच्छिन्न कर ले तो हीन पड़ता है। यह उसे सुहा कैसे सकता है ? अनजान में ही सही उसे अपनी कुलीनता का बोध है। उसे आभास-सा है कि निखिल के साथ उसका सीधा संबंध है। इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है। इसके बिना जैसे वह अकेले में कहीं निर्वासित हो, निष्कासित हो। इसीसे जब वह दूर तक फैली हुई स्वच्छ चाँदनी को देखता है, तब क्या उछल नहीं पड़ता ? तब क्या उसे यह बोध नहीं होता कि इसी तरह अमल-धवल होकर वह यहाँ, वहाँ और सब जगह बिछ नहीं गया है ? तब क्या उसके भीतर के प्रकाश से सराबोर होकर मुँह से 'वाह ! वाह !' एकदम निकल नहीं पड़ता ? यह उल्लास किसी छंद में बँधा हो या न बँधा हो, यह एक उच्च कोटि की कविता है। चिरकाल के अनंत ओठों से घिसकर भी यह पुरानी नहीं पड़ी। इसकी सहायता से मनुष्य पहुँच जाता है नक्षत्रलोक में, मिल जाता है मेघ-मंडली में, लहरा उठता है अथाह सागर में। कितनी ही दूरी हो, कितनी ही कठिनाई हो, उसे बाधक नहीं होती। वह अनुभव करता है कि सबके साथ वह एकरूप है। इसी से चाहता यह है कि वह वृक्षों में जाकर पल्लवित हो जाए, लताओं में मिलकर खिल उठे, नदी के बहाव में और घुमाव में दुर्गम और दुरूह की यात्रा कर ले। शरीर उसका ससीम है तो क्या हुआ ? हृदय और मन के पंख लगाकर वह कहीं भी उड़ जाता है। कहीं भी ज्ञात और अज्ञात के घर पहुँचकर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए उसे हिचक नहीं होती।

पर जितना भी यह आनंद है, सब बाहरी है। अपना भी मनुष्य का कुछ होना चाहिए। निजी उसका कुछ न हो तो उसका गौरव गिर जाता है। इसीसे उसके पास अपनी भी व्यक्तिगत कुछ पूँजी है और यह है उसकी वेदना। वह आनंद प्रकाश है तो यह वेदना छाया। एक वह दिन है तो दूसरी यह रात। अर्थात् एक के द्वारा हम दूसरे को पाते हैं। नहीं तो वह पाना पाना नहीं रह जाता। वेदना के घाट पर आकर ही आनंद की धारा तीर्थ-रूप होती है।

इसीसे जब हम किसी की आँख में आँसू देखते हैं तो उसका खारीपन हमारे भीतर के किसी घाव में लगकर चुभता है। इसीसे जब हम किसी का क्रंदन सुनते हैं तो हमें यह नहीं लगता कि यह किसी दूसरे का है। जान पड़ता है, हमारा अपना ही कुछ जैसे यह दूसरे के कंठ से निकल पड़ा हो। 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे की तरह खिसक जाती है और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं। आनंद की उपलब्धि से वेदना की यह उपलब्धि श्रेष्ठ है।

बात यह है कि चाँदनी की निर्मल धारा में जब हम नहाते हैं, तब हम आत्मीय के नाते उसकी शीतलता निस्संकोच ले लेते हैं। लेकर भी देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं होता। हम कुछ दक्षिण पवन नहीं, जो उसके, उस चाँदनी के, कोमल विस्तार पर सुगंधि का लेपन कर सकें। हम न हों तब भी वह मलिन न पड़ जाएगी। पर किसी के आँसू या रुदन के विषय में ऐसा नहीं।

हम न हों, तो किसी के आँसुओं का मूल्य क्या? जहाँ वे अपने में बरस रहे हैं, वहाँ तो पहले ही सागर या नद हिलोरें ले रहा है। हमारी मिट्टी में आकर ही किसी के आँसू सफल हैं। हमारे क्षेत्र में आकर ही वे संसार की हरियाली बढ़ाते हैं, फूल और सुगंधि बनकर हँसते और फैलते हैं। दूसरे का रुदन भी हमारे बिना अपना भार अपने आप नहीं झेल सकता। वह निरर्थक हो जाता है। जब वह हमारे भीतर के तंत्र को स्पर्श करता है, तभी उसमें से अपनी रागनी निखरती है। इसीसे वेदना को आनंद से श्रेष्ठ कहा है। वह दो को एक करती है। उसके कारण हमारी छोटी सीमा टूटती है और हम विराट की ओर बढ़ते हैं और विराट हमारी ओर आता है।

आनंद और वेदना का यह महाकाव्य आदिकाल से आज तक प्रत्येक

मानव के भीतर रचित और संचित हो रहा है। सभी के सभी इसके कवि और सभी के सभी इसके रसिक और सभी के सभी इसके भोक्ता हैं। यह ठीक है कि कुछ छोटे होते हैं। उन्हें हम 'खद्योत सम' कहते हैं। यह इसलिए कि उनकी अभिव्यक्ति अपने आप के घेरे से आगे नहीं बढ़ती, उतनी के लिए भी उन्हें अँधेरा आवश्यक होता है। और कुछ बड़े होते हैं, ऐसे होते हैं कि उन्हें हम सूर और शशि कह कर अभिनंदित करते हैं। कुछ हो, जाति दोनों की विभिन्न नहीं। क्षण भी काल है और युग भी काल है।

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नहीं होना चाहिए। छोटा ही बड़े होने का आधार है। बड़े-से-बड़े की प्रीति, विस्तार और अभिव्यक्ति आरंभ में छोटी ही थी। एक युवक याद आ रहा है। उसके अनुराग की मूर्ति अपने पिता के घर है। भादों का महीना है, रात अँधेरी। मूसलाधार पानी बरस रहा है। पथ का, नाले का, नदी का और नद का भेद पकड़ में नहीं आता। सब एकाकार हो गए हैं। युवक रुकता नहीं, चल देता है। किस तरह वह ससुराल के पिछवाड़े पहुँचता है, यह आश्चर्य की बात है। इससे भी आश्चर्य की बात तो यह कि दीवार पर यह रस्सी लटकती है और वह भी रेशम-सी मुलायम और मजबूत। हो सकता है वह साँप हो, पर युवक तो अजगर जैसे पथ के पेट से निकलकर यहाँ पहुँचा है। वह भय से अतीत है। रस्सी में उसने साँप नहीं देखा, वरन् साँप ही उसके लिए रस्सी बन गया है। छत पर एकांत में वह अपनी अनुरागवती के पास पहुँचता है। वह चकित होती है, स्तंभित रह जाती है। कहती है—"मुझ-जैसी—मुझ-जैसी न-कुछ के प्रति तुम्हारा यह प्रेम ! जिन्होंने भगवान को पा लिया है, वे भी इतनी कड़ी साधना न करते होंगे।" सचमुच युवक का प्रेम क्षुद्र के प्रति था, एक के प्रति था। पर उसी एक ने इस स्थान पर एक ऐसा मणिदीप[1] एक ऐसी जीभ की देहरी के द्वार पर रख दिया, जिसने युग के युग में भीतर और बाहर एक-सा उजाला फैला दिया है। एक क्षण में युवक का 'मानस' किसी एक का न रहकर सबके लिए खुल पड़ा। अभी तक छोटा

---

१ तुलसी के इस दोहे की प्रतिध्वनि है :

राम नाम मनिदीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ, जौं चाहसि उजिआर॥

(संपादक)

जो था, वह बड़ा हो गया; और उथला जो था, वह अगाध हो गया; और व्यक्ति जो था, वह समाज और राष्ट्र हो गया। हम छोटों को निराश होने का कारण नहीं। हम सब उसी युवक के अनुयायी हैं। अभी इस घने अँधियारे में जा रहे हैं, इसलिए हमें कोई देख नहीं पाता। यहाँ तक कि हम स्वयं भी अपने को नहीं देख पाते। तब भी हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। चले चलो, बढ़े जाओ! क्या ठीक, आगे कोई हमारे लिए भी वैसा ही मणिदीप हाथ में लिए हो। हम निराश नहीं होंगे, हम आशा का साथ नहीं छोड़ेंगे। आशा जीवन है और निराशा मृत्यु। इस आशावादिता में, वे मित्र भी हमारे सहयोगी हुए बिना न रहेंगे, जो इस छोटे गाँव में हम छोटे-मोटे कवियों की इतनी संख्या देखकर खीझ उठे हैं।

और मैं यह मानने को तैयार नहीं कि वे मेरे मित्र स्वयं ही कवि नहीं हैं। मानूँगा, मैंने उनकी कोई छंदोबद्धरचना नहीं देखी। फिर भी उनकी कविता का उपयोग नहीं किया, यह किस तरह मान लूँ? मैंने उनका प्यार पाया है, स्नेह पाया है, उनकी झिड़की खाई है, उनका क्रोध पाया है। जो कुछ पाया है, सबका सब हृदय-रस में डूबा हुआ। हृदय-रस ही कविता है। जितनी कविताएँ हों, वे सबकी सब छंद में गूँजकर कागज पर रख दी जाएँ, यह आवश्यक नहीं। सारा का सारा जल घाट के जलाशय में ही बँध जाए और गंगा और यमुना की धारा में ही बहता रहे, यह नहीं हो सकता। थल की सतह पर भी उसका अस्तित्व है। वहाँ वह लहरों में उछलता नहीं मिलता; तट पर क्रीड़ा करता नहीं पाया जाता; प्रवाह के कल-कल में और गंभीर घरघराहट में घूमता, फिरता, दौड़ता और थमककर चलता हुआ नहीं दिखाई देता। वहाँ उसका दूसरा रूप है। वहाँ वह छोटी-छोटी दूब में दूर तक बिछा है, वहाँ वह वृक्षों की हरी-हरी पत्तियों में और डालों में झूलता है, वहाँ वह लताओं के अंचल में रंग-बिरंगा होकर झूमता है। वहाँ वह उद्यान है, वहाँ वह सघन वन है।

पुराने समय के कुछ ही कवियों को हम जानते हैं। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इतने ही कवि उस समय रहे होंगे। इतिहास में थोड़े ही व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, पर उस काल में उनको छोड़कर और कोई न होगा, यह हम नहीं मानते। आजकल की भाँति ही सब कालों में कवि असंख्य रहे हैं और रहेंगे।

पृथ्वी पर कहीं समुद्र है, कहीं खाड़ी है, कहीं गंगा-यमुना है, कहीं झरना है और कहीं सरोवर है। नए-नए घाट और नए-नए तीर्थ। जहाँ ये नहीं हैं, क्या वहाँ लोग प्यासे मरेंगे ? वहाँ हम कुएँ के छोटे-से घाट पर ही तृप्त होते हैं। कुएँ का जल ही वहाँ हमें शीतल करता है। कुआँ छोटा हो, तब भी वह हमारे लिए है। वह हमारे लिए आश्वासन है कि कहीं भी उसे पाकर हम जीवित रह सकते हैं। हम छोटे-मोटे कवि इन्हीं कुओं जैसे हैं, जो आवश्यकतानुसार जहाँ-तहाँ प्रकट होते हैं। हम अपने प्रति अकृतज्ञ क्यों हों ? क्यों हम अपने को निस्सार समझें ? बड़े-बड़े तीर्थ कुछ लोगों के लिए, कुछ भाग्यवानों के लिए हैं, क्योंकि वे सब जगह नहीं जा सकते। हम छोटे हैं इसलिए हमें रुकावट नहीं। हमारी पहुँच घर-घर है। कहीं भी पहुँचने में हमें प्रयास नहीं पड़ता। और कुआँ कहकर यदि हम अपने को कुछ अधिक कहते हों तो मिट्टी की गगरी होकर भी हम हीन नहीं होंगे। उसका जल और भी शीतल और स्वादिष्ट और सुलभ होगा। वह मांगलिक है।

प्रश्न और अभ्यास

१. संवेदना के द्वारा हम किस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विस्तार करते हैं ? पाठ के आधार पर उत्तर दीजिए।
२. छोटे-छोटे कवियों का महत्त्व लेखक ने किस रूप में प्रतिपादित किया है ?
३. विषय-प्रतिपादन तथा भाषा की दृष्टि से सियारामशरण गुप्त की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।
४. निम्नलिखित वाक्यों का भाव स्पष्ट कीजिए:
   (क) फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता।
   (ख) इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है।
   (ग) वेदना के घाट पर आकर ही आनंद की धारा तीर्थरूप होती है।
   (घ) 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे की तरह खिसक जाती है और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं।
   (ङ) हमारी मिट्टी में आकर ही किसी के आँसू सफल हैं।
५. नीचे 'निस्' का योग तीन शब्दों के साथ 'निश्', 'निष्' और 'निस्' के रूप में दिखाया गया है। तीनों प्रकार के दो-दो उदाहरण और दीजिए:
   निस् + चेष्ट = निश्चेष्ट
   निस् + कपट = निष्कपट
   निस् + सार = निस्सार

रामवृक्ष बेनीपुरी

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म मुजफ्फरपुर जिले (बिहार) के बेनीपुर गाँव में एक साधारण किसान परिवार में सन् १९०२ ई० में हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहांत हो गया। सन् १९२० ई० में गाँधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने पर ये अध्ययन छोड़ राष्ट्र-सेवा में लग गए। 'रामचरितमानस' के पठन-पाठन से इनकी रुचि साहित्य की ओर हुई। पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही ये पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के पुरस्कारस्वरूप इन्हें अपने जीवन का एक बड़ा अंश कारागार में बिताना पड़ा। ये 'बालक', 'तरुण भारती', 'किसान मित्र', 'नई धारा' आदि अनेक पत्रों का संपादन कर चुके हैं। बेनीपुरीजी का देहान्त सन् १९६८ ई० में हुआ।

उपन्यास, नाटक, कहानी, यात्रा-विवरण, संस्मरण, निबंध आदि सभी गद्य-विधाओं में बेनीपुरीजी की अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनका पूरा साहित्य 'बेनीपुरी ग्रंथावली' के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ निम्नलिखित हैं:

'पतितों के देश में' (उपन्यास), 'चिता के फूल' (कहानी), 'माटी की मूरतें' (रेखाचित्र), 'अंबपाली' (नाटक), 'गेहूँ और गुलाब' (निबंध और रेखाचित्र), 'पैरों में पंख बाँधकर' (यात्रा-विवरण) तथा 'जंजीरें और दीवारें' (संस्मरण)।

बेनीपुरीजी एक कर्मठ देशभक्त थे; इनका साहित्य इनकी अनुभूतियों और कल्पनाओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। भाषा ओजपूर्ण और सशक्त है। कुछ प्रांतीय शब्द आ जाने पर भी वह खड़ीबोली के परिष्कृत रूप का ही अनुगमन करती है।

'नई संस्कृति की ओर' निबंध में इन्होंने प्रतिपादित किया है कि आर्थिक और राजनीतिक प्रगति सदा एकांगी ही रहेगी। मानव-विकास के लिए संस्कृति के विकास की भी आवश्यकता है। यह कार्य निश्चित योजना के अनुसार होना चाहिए और इसके लिए साहित्यकारों एवं कलाकारों का सहयोग आवश्यक है।

रामवृक्ष बेनीपुरी

नई संस्कृति की ओर

हिन्दोस्तान आजाद हो गया। आजाद हिन्दोस्तान का ध्यान एक नए समाज के निर्माण की ओर केंद्रित हो रहा है।

यह नया समाज कैसा हो?—उसका मूल आधार कैसा हो, उसका विकास किस प्रकार किया जाए? हिन्दोस्तान का हर देशभक्त इन प्रश्नों पर सोच-विचार कर रहा है।

समाज को अगर एक वृक्ष मान लिया जाए, तो अर्थनीति उसकी जड़ है, राजनीति तना; विज्ञान आदि उसकी डालियाँ हैं और संस्कृति उसके फूल।

इसलिए नए समाज की अर्थनीति या राजनीति आदि पर ही हमें ध्यान देना नहीं है बल्कि उसकी संस्कृति की ओर सबसे अधिक ध्यान देना है; क्योंकि मूल और तने की सार्थकता तो उसके फूल में ही है।

फिर इन तीनों का संबंध परस्पर इतना गहरा है कि आप इन्हें अलग-अलग कर भी नहीं सकते। नई अर्थनीति और राजनीति के साथ एक नई संस्कृति का विकास हमारी आँखों के सामने हो रहा है—भले ही हम उसे देख न पाएँ या उसकी ओर से अपनी आँखें मूँद लें।

गत पचास वर्षों के राजनीतिक, आर्थिक संघर्षों ने हमारे दिमाग को इतना कुंठित बना दिया है कि संस्कृति की सुकुमार दुनिया हमारी पथराई आँखों के सामने आकर भी नहीं आ पाती।

गेहूँ हमारी आँखों पर इस कदर छाया हुआ है कि गुलाब को हम देखकर भी नहीं देख पाते।

गेहूँ के सवाल को हल कीजिए, और जरूर हल कीजिए, किन्तु किसलिए? सदा याद रखिए, आदमी सिर्फ चारा और दाना खानेवाला जानवर नहीं है।

समाज की सारी साधनाओं की परिणति उसकी संस्कृति में है। जड़ में खाद-पानी दीजिए, तनों की डालियों की रक्षा कीजिए; किन्तु नजर रखिए फूल पर।

फूल पर, गुलाब पर, संस्कृति पर।

नये समाज की वह हर योजना अधूरी है, जिसमें नई संस्कृति के लिए स्थान नहीं।

× × × ×

सूरज डूबने जा रहे थे। उन्होंने कहा, कौन मेरे पीछे इस संसार को आलोक देगा?

चाँद थे, सितारे थे—सब चुप रहे। छोटा-सा मिट्टी का दीया। उसने बढ़कर कहा, देवता, यह भारी बोझ मेरे दुबले कंधों पर।

कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की यह एक कड़ी है।

जब राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री दूसरी बड़ी-बड़ी योजनाओं में लगे हैं; ओ कलाकारो चलो, हम अपनी परिमित शक्ति से इस क्षेत्र में कुछ काम कर दिखाएँ।

आखिर यह क्षेत्र भी तो हमारा ही है। गुलाब की खेती के माली तो हमी हैं; फूलों के संसार के भौंरे तो हमी हैं। हम न करेंगे तो यह काम करेगा कौन?

हमारी यह गुलाब की दुनिया—फूलों की दुनिया—रंगों की दुनिया—सुगंधों की दुनिया—इतनी सुकुमार, इतनी नाजुक दुनिया है कि कहीं अर्थशास्त्रियों के हथौड़े और राजनीतिज्ञों के कुल्हाड़े उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचंद के शब्दों में—'रक्षा में हत्या' न हो जाए!

इसलिए, हमें ही यह करना है। उन्हें कुछ दूर-दूर ही रखना है।

× × × ×

नई संस्कृति—नये समाज के लिए नई संस्कृति! किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि हम पुरानी संस्कृति के निन्दक या शत्रु हैं। पुरानी संस्कृति की सरजमीन ही पर तो नई संस्कृति की अट्टालिका खड़ी करनी है हमें।

पुरानी संस्कृति से हम प्रेरणा लेंगे, पाठ लेंगे। वह हमारी विरासत है, हम उसे क्यों छोड़ेंगे?

किन्तु पुरानी संस्कृति नष्ट हो रही है; क्योंकि उसमें सड़न आ गई है—घुंन लगा हुआ है। इसलिए नई संस्कृति की रूपरेखा नई होगी ही; नये साधनों को अपनाने से भी हम न हिचकेंगे।

हमारा उद्देश्य होगा, जीवन के हर सांस्कृतिक पहलू का इस प्रकार

विकास करना कि हमारा सामाजिक जीवन स्वतंत्रता, समता और मानवता के आधार पर पुनर्गठित हो और वह सौन्दर्य एवं आनंद को पूर्ण रूप से उपलब्ध कर सके।

हाँ, स्वतंत्रता, समता, मानवता। नई संस्कृति के आधार तो यही हो सकते हैं।

किन्तु इसका अर्थ हम सिर्फ राजनीतिक और आर्थिक अर्थों में नहीं लगाते। तीसरा शब्द मानवता हमारे उद्देश्य को स्पष्ट और पुष्ट कर देता है।

हम सारी दासताओं से—सारी विषमताओं से मानवों को मुक्त कर उनके परस्पर के संबंध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनंद की उपलब्धि कर पाएगा।

सौन्दर्य और आनंद ! नई संस्कृति को इसी ओर चलना है, बढ़ना है।

आज के समाज में कुरूपता ही कुरूपता है, पीड़ाओं की विविधता है; बहुलता है। हम इसे सुंदर बनाएँगे—हम इसे सुखी बनाएँगे।

लेखकों को, कवियों को, पत्रकारों को हम इकट्ठा करेंगे कि वे परस्पर विचार-विनिमय करके जनता के जीवन के अभावों और अभियोगों का सही चित्रण करें और साहित्य को उस पथ से ले चलें जिसके द्वारा जनता स्वतंत्र और पूर्ण जीवन का उपभोग कर सके।

इतना ही नहीं—जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेंगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृतियों में जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बनाकर उसे आनंद से परिपूरित करें।

इस तरह हम उन सभी कलाकारों का आह्वान कर रहे हैं जो अपनी लेखनी या कूची, वाणी या वाद्यों द्वारा समाज को 'सत्यं' 'शिवं' 'सुंदरम्' की ओर ले जाने में लगे हैं, किन्तु एक व्यापक संगठन न होने के कारण जिनकी साधनाएँ इच्छित फल नहीं दे पा रही हैं।

इनका संगठन करके हम शहरों और गाँवों में ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र खोलना चाहते हैं जिनमें उनकी कलाकृतियों का प्रदर्शन हो सके और

जहाँ से नई संस्कृति का संदेश भिन्न-भिन्न साधनों द्वारा हम देश के कोने-कोने में फैला सकें।

हम बार-बार जनता पर जोर दे रहे हैं---क्योंकि हमने देखा है और दुःख के साथ अनुभव किया है कि आज की संस्कृति कुछ अभिजात लोगों तक ही सीमित और परिमित है।

नया समाज जनता का समाज होगा; संस्कृति को भी जनता की संस्कृति होना है।

नए समाज का भविष्य महान है; नई संस्कृति का भविष्य महान है।

अब तक की संस्कृति मानवता के सैकड़े एक का भी सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती थी। जो सौ में सौ का प्रतिनिधित्व करेगी, वह कितनी बड़ी चीज होगी---कल्पना कीजिए।

कितनी बड़ी चीज, कितनी रंग-बिरंगी चीज !

सौ में सौ की इच्छा-आकांक्षा, हर्ष-उल्लास, मिलन-विरह, शौर्य-बलिदान, दया-क्रोध, पीर-रुदन का वह चित्रण और उनकी ही कलम या कूची, वाणी या वाद्य द्वारा।

सदियों से अवरुद्ध निर्झरिणी जब एकाएक शैल-शृंग से फूट पड़ेगी। युगों से पिंजरबद्ध विहगी जब वन-विटपी की फुनगी पर तोलते हुए कलरव कर उठेगी।

कल्पना कीजिए, खुश होइए और आइए हमारे इस सदुद्योग में हाथ बटाइए।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक ने गेहूँ और गुलाब को किसका प्रतीक माना है ?
२. पुरानी संस्कृति नष्ट क्यों हो रही है ? पाठ के आधार पर उत्तर लिखिए।
३. लेखक ने नई संस्कृति का क्या आधार माना है ?
४. प्रस्तुत पाठ की भाषा-शैली के गुण-दोषों का निर्देश कीजिए।
५. निम्नलिखित अंशों की सप्रसंग व्याख्या कीजिए :
   (क) हमारी यह गुलाब की दुनिया---फूलों की दुनिया---रंगों की दुनिया---सुगंधों की दुनिया---इतनी सुकुमार, इतनी नाजुक दुनिया है कि कहीं

अर्थशास्त्रियों के हथौड़े और राजनीतिज्ञों के कुल्हाड़े उसका सर्वनाश न कर दें या प्रेमचंद के शब्दों में—'रक्षा में हत्या' न हो जाए।

(ख) हम सारी दासताओं से—सारी विषमताओं से मानवों को मुक्त कर उनके परस्पर के संबंध को विशुद्ध मानवता पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि तभी आदमी अपने जीवन में सौन्दर्य और आनंद की उपलब्धि कर पाएगा।

(ग) इतना ही नहीं—जो कलाकार नाटक, संगीत, नृत्य और चित्रकारी में लगे हैं, उन्हें भी एकत्र करेंगे और उन्हें प्रोत्साहित करेंगे कि वे अपनी कलाकृतियों में जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को प्रतिफलित होने दें और सामाजिक जीवन को सौन्दर्यमय बनाकर उसे आनंद से परिपूरित करें।

वासुदेवशरण अग्रवाल

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का जन्म सन् १९०४ ई० में लखनऊ के एक संपन्न परिवार में हुआ था। इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से एम० ए०, पी-एच० डी० और डी० लिट० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। ये हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत के विशिष्ट विद्वान थे। इतिहास, पुरातत्त्व, भारतीय संस्कृति और साहित्य इनके विशेष विषय थे। अनेक वर्षों तक भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य कर चुकने पर ये हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में भारती महाविद्यालय के प्राचार्य हुए। इसी पद पर कार्य करते हुए सन् १९६६ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

'पृथिवीपुत्र', 'कल्पवृक्ष', कल्पलता', 'कला और संस्कृति' इनके निबंध-संग्रह हैं। कालिदास के 'मेघदूत' और बाण के 'हर्ष-चरित' के इन्होंने गंभीर, सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। जायसी के 'पदमावत' पर इनकी 'संजीवनी व्याख्या' अपने ढंग का अपूर्व ग्रंथ है जिस पर इन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला था।

विषय का प्रतिपादन ये स्वाभाविक शैली में करते हैं। उक्ति चमत्कार के प्रति इन्हें मोह नहीं है,परंतु इनकी भाषा सरल होते हुए भी गंभीर अध्ययन और पांडित्य का परिचय देती है। कहीं-कहीं उसमें सूत्रात्मक उक्तियाँ भीं पिरोई हुई मिलती हैं जो विचारों को केंद्रित करने में सहायक होती हैं।

'राष्ट्र का स्वरूप' इनके 'पृथिवीपुत्र' निबंध-संग्रह से लिया गया है। इसमें इन्होंने बताया है कि पृथिवी, जन और संस्कृति तीनों के सम्मिलित योग से 'राष्ट्र का स्वरूप' बनता है। पृथिवी के प्रति मातृ-भावना राष्ट्रीयता की कुंजी है। राष्ट्र के समग्ररूप में भूमि और जन के साथ संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनंत काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे, उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथिवी सच्चे अर्थों में समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथिवी के साथ नहीं जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथिवी में जितनी गहरी होंगी, उतना ही राष्ट्रीय भावों का अंकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथिवी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुंदरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्त्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथिवी से जिस वस्तु का संबंध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसका कुशल-प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथिवी का सांगोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनंदप्रद कर्त्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों में सैकड़ों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथिवी की उपजाऊ शक्ति को बढ़ानेवाले मेघ जो प्रतिवर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सींचते हैं, हमारे अध्ययन की परिधि के अंतर्गत आने चाहिएँ। उन मेघजलों से परिवर्द्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अंधकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखाई देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं जिनके कारण

वह वसुंधरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा ? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथिवी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन-रात बहनेवाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीसकर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथिवी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिए इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यंत आवश्यक है। पृथिवी की गोद में जन्म लेनेवाले जड़-पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यंत सौन्दर्य का प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विन्ध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते हैं, उनको जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते हैं तब उनके प्रत्येक घाट से नई शोभा और सुंदरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं। देश के नर-नारियों के रूप-मंडन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है; अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथिवी और आकाश के अंतराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथिवी के चारों ओर फैले हुए गंभीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नए भाव राष्ट्र में फैलने चाहिएँ। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नई किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोए हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिए बिना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल-समृद्धि और समग्र रूप-मंडन प्राप्त किया जा सकता है।

जन

मातृभूमि पर निवास करनेवाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग हैं। पृथिवी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असंभव है। पृथिवी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप संपादित होता है। जन के कारण ही पृथिवी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथिवी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

—भूमि माता है मैं उसका पुत्र हूँ।

जन के हृदय में इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमंडल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथिवी के साथ अपने सच्चे संबंध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का संबंध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के संबंध को पहचानता है, उसी क्षण आनंद और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृभूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।

—माता पृथिवी को प्रणाम है। माता पृथिवी को प्रणाम है।

यह प्रणाम-भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बंधन है। इसी दृढ़ भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्त्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो जन पृथिवी के साथ माता और पुत्र के संबंध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथिवी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है। माता के प्रति अनुराग और सेवाभाव पुत्र का स्वाभाविक कर्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना संबंध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथिवी पर बसनेवाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नहीं है। जो मातृभूमि के हृदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथिवी पर निवास करनेवाले जनों का विस्तार अनंत है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलनेवाले और अनेक धर्मों के माननेवाले हैं, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र हैं और इस कारण उनका सौहार्द भाव

अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते हैं, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो संबंध है, उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथिवी के विशाल प्रांगण में सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक-जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़कर राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र को जागरण और प्रगति की एक-जैसी उदार भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अंनत होता है। सहस्रों वर्षों से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती हैं तब तक राष्ट्रीय जन का जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के बाद भी राष्ट्र-निवासी जन नई उठती लहरों से आगे बढ़ने के लिए आज भी अजर-अमर हैं। जन का संततवाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है, जिसमें कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घाटों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों में जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। बिना संस्कृति के जन की कल्पना कबंधमात्र है; संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। संस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि संभव है। राष्ट्र के समग्र रूप में भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिए जाएँ तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अंतर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर बसनेवाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र में जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र में जो रचा है, दोनों के रूप में हमें राष्ट्रीय संस्कृति के

दर्शन मिलते हैं। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित संस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती हैं, परंतु उन सबका मूल आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जल के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्वव्यापी आनंद-भाव है वह इन विविध रूपों में साकार होता है। यद्यपि वाह्यरूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखाई पडते हैं, किन्तु आंतरिक आनंद की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद-पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनंदित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छंद जन्म लेनेवाले लोकगीतों में, तारों के नीचे विकसित लोक-कथाओं में संस्कृति का अमित भंडार भरा हुआ है, जहाँ से आनंद की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचयकाल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म-विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना

नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

प्रश्न और अभ्यास

१. राष्ट्र के स्वरूप का निर्माण किन तत्त्वों से होता है ?
२. पृथिवी को वसुंधरा क्यों कहते हैं ?
३. 'पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों में पृथिवी का पुत्र है'—इस कथन की व्याख्या कीजिए।
४. प्रयोगों के द्वारा निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:
 (क) तादात्म्य, प्रतीक, सूत्रपात, सांगोपांग, अंतराल।
 (ख) निम्नलिखित प्रयोगों का अर्थ स्पष्ट कीजिए:
 निष्कारण धर्म, रूपमंडन, सौन्दर्य-प्रसाधन, संततवाही जीवन।
५. अधोलिखित उद्धरणों की व्याख्या कीजिए:
 (क) जंगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अवरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं।
 (ख) जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में सन् १९०७ ई० में हुआ था। सन् १९३३ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ये प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या नियुक्त हुईं और तब से वहीं कार्य कर रहीं हैं। इनकी विविध साहित्यिक, शैक्षिक तथा सामाजिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने इन्हें 'पद्मभूषण' अलंकार से सम्मानित किया है।

महादेवी जी छायावाद युग की प्रतिनिधि कलाकार हैं। इनकी कविताओं में वेदना का स्वर प्रधान है और भाव, संगीत तथा चित्र का अपूर्व संयोग है।

'स्मृति की रेखाएँ' और 'अतीत के चलचित्र' में इनका कविहृदय गद्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इन ग्रंथों में इन्होंने कुछ उपेक्षित प्राणियों के चित्र अपनी करुणा से रंजित कर इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं कि हम उनके साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। 'पथ के साथी' में इस युग के प्रमुख साहित्यिकों के अत्यंत मार्मिक व्यक्ति-चित्र संकलित हैं। 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में आधुनिक नारी की समस्याओं को प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत कर उन्हें सुलझाने के उपायों का निर्देश किया गया है।

इनकी गद्य-शैली प्रवाहपूर्ण, चित्रात्मक तथा काव्यमयी है और भाषा संस्कृत-प्रधान है। इस शैली के दो स्पष्ट रूप हैं—विचारात्मक तथा भावात्मक। विचारात्मक गद्य में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता है तथा भावात्मक गद्य में कल्पना और अलंकार की।

'घर और बाहर' निबंध का प्रतिपाद्य है—आज की शिक्षित नारी की समस्या: 'घर' और 'बाहर' इन दोनों क्षेत्रों को अलग-अलग रखना ही समस्या का मूल कारण है और सामंजस्य हीं उसका समाधान है।

महादेवी वर्मा

घर और बाहर

समय की गति के अनुसार न बदलनेवाली परिस्थितियों ने स्त्री के हृदय में जिस विद्रोह का अंकुर जम जाने दिया हैं, उसे बढ़ने का अवकाश यही घर-बाहर की समस्या दे रही है। जब तक समाज का इतना आवश्यक अंग अपनी स्थिति से असंतुष्ट तथा अपने कर्तव्य से विरक्त है, तब तक प्रयत्न करने पर भी हम अपने सामाजिक जीवन में सामंजस्य नहीं ला सकते। केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् हमारे सामूहिक विकास के लिए भी यह आवश्यक होता जा रहा है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना विशेष कार्यक्षेत्र चुनने को स्वतंत्र हो। गृह की स्थिति भी तभी तक निश्चित है जब तक हम गृहिणी की स्थिति को ठीक-ठीक समझकर उससे सहानुभूति रख सकते हैं और समाज का वातावरण भी तभी तक सामंजस्यपूर्ण है, जब तक स्त्री तथा पुरुष के कर्तव्यों में सामंजस्य है।

आधुनिक युग में घर और बाहर भी ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, जो स्त्री के सहयोग की उतनी ही अपेक्षा रखते हैं, जितनी पुरुष के सहयोग की। राजनीतिक व्यवस्थाओं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में पुरुष को सहयोग देने के अतिरिक्त समाज की अन्य ऐसी अनेक आवश्यकताएँ हैं जो स्त्री से सहानुभूति और स्नेहपूर्ण सहायता चाहती हैं। उदाहरण के लिए हम शिक्षा के क्षेत्र को ले सकते हैं। हम अपनी आगामी पीढ़ी को निरक्षरता के शाप से बचाने के लिए अधिक-से-अधिक शिक्षालयों की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। आज भी श्रमजीवियों को छोड़कर प्रायः अन्य सभी अपनी एक विशेष अवस्थावाले छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को ऐसे स्थानों में भेजने के लिए बाध्य होते हैं, जहाँ या तो दंडधारी कठोर आकृतिवाले जीवन से असंतुष्ट गुरुजी या अनुभवहीन हठी कुमारिकाएँ उनका निष्ठुर स्वागत करती हैं। एक विशेष अवस्था तक बालक-बालिकाओं को स्नेहमयी शिक्षिकाओं का सहयोग जितना अधिक मिलेगा, हमारे भावी नागरिकों का जीवन उतने ही अधिक सुंदर साँचे में ढलेगा। हमारे बालकों के लिए कठोर शिक्षक के स्थान में यदि ऐसी स्त्रियाँ रहें जो स्वयं माताएँ

भी हों तो कितने ही बालकों का भविष्य इस प्रकार नष्ट न हो सकेगा जिस प्रकार आजकल हो रहा है। एक अबोध बालक या बालिका को हम एक ऐसे कठोर तथा अस्वाभाविक वातावरण में रखकर विद्वान या विदुषी बनाना चाहते हैं, जो उसकी आवश्यकता, उसकी स्वाभाविक दुर्बलता तथा स्नेह, ममता की भूख से परिचित नहीं, अतः अंत में हमें या डर से सहमे हुए या उद्दंड विद्यार्थी ही प्राप्त होते हैं।

यह निर्भ्रांत सत्य है कि बालकों की मानसिक शक्तियाँ स्त्री के स्नेह की छाया में जितनी पुष्ट और विकसित हो सकती हैं, उतनी किसी अन्य उपाय से नहीं। पुरुष का अधिक संपर्क तो बालक को असमय ही कठोर और सतर्क बना देता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि बालक-बालिकाओं को स्त्री के अंचल की छाया में ही पालना उचित है तो उनकी प्रारंभिक शिक्षा का भार माता पर ही क्यों न छोड़ दिया जाए। वे एक विशेष अवस्था तक माता की देख-रेख में रहकर तब किशोरावस्था में विद्यालयों में पहुँचाए जाएँ तो क्या हानि है?

इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल है। मनुष्य ऐसा सामाजिक प्राणी है, जिसे केवल अपना स्वार्थ नहीं देखना है, जिसे समाज के बड़े अंश को लाभ पहुँचाने के लिए कभी-कभी अपने लाभ को भूलना पड़ता है, अपनी इच्छाओं को नष्ट कर देना होता है और अपनी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना पड़ता है। परंतु सामाजिक प्राणी के ये गुण, जो दो व्यक्तियों को प्रतिद्वंद्वी न बनाकर सहयोगी बना देते हैं, तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब उन्हें बालकपन से समूह में पाला जाए। जो बालक जितना अधिक अकेला रखा जाएगा, उसमें अपनी प्रवृत्तियों के दमन की, स्वार्थ को भूलने की, दूसरों को सहयोग देने तथा पाने की शक्ति उतनी ही अधिक दुर्बल होगी। ऐसा बालक कभी सच्चा सामाजिक व्यक्ति बन ही न सकेगा। मनुष्य क्या, पशुओं में भी बचपन के संसर्ग से ऐसा स्नेह-सौहार्द उत्पन्न हो जाता है जिसे देखकर विस्मित होना पड़ता है। जिस सिंह-शावक को बकरी के बच्चे के साथ पाला जाता है, वह बड़ा होकर भी उससे शत्रुता नहीं कर पाता।

अकेले पाले जाने के कारण ही हमारे यहाँ बड़े आदमियों के बालक बढकर खजूर के वृक्ष के समान अपनी छाया तथा फल दोनों ही से अन्य

व्यक्तियों को एक प्रकार से वंचित कर देते हैं। उनमें वह गुण उत्पन्न ही नहीं हो पाता जो सामाजिक प्राणी के लिए अनिवार्य है। न उनको बचपन से सहानुभूति के आदान-प्रदान की आवश्यकता का अनुभव होता है न सहयोग का। वे तो दूसरों का सहयोग अन्य आवश्यक वस्तुओं के समान खरीदकर ही प्राप्त करना जानते हैं, स्वेच्छा से मनुष्यता के नाते जो आदान-प्रदान, धनी-निर्धन, सुखी-दुःखी के बीच में संभव हो सकता है उसे जानने का अवकाश ही उन्हें नहीं दिया जाता। बिना किसी भेद-भाव के धूल-मिट्टी, आँधी-पानी, गर्मी-सर्दी में साथ खेलनेवाले बालकों का एक-दूसरे के प्रति जो भाव रहता है, वह किसी और परिस्थिति में उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक माता को केवल उसी की संतान का संरक्षण सौंप देने से उसके स्वाभाविक स्नेह को सीमित कर देना होगा। जिस जल के दोनों ओर कच्ची मिट्टी रहती है वह उसे भेदकर दूर तक के वृक्षों को सींच सकता है, परंतु जिसके चारों ओर हमने चूने की पक्की दीवार खड़ी कर दी है वह अपने तट को भी नहीं गीला कर सकता। माता के स्नेह की यही दशा है। अपनी संतान के प्रति माता का अधिक स्नेह स्वाभाविक ही है, परंतु निरंतर अपनी संतान के स्वार्थ का चिन्तन उसमें इस सीमा तक विकृति उत्पन्न कर देता है कि वह अपने सहोदर या सहोदरा के संतान के प्रति भी निष्ठुर हो उठती है।

बालक-बालिकाओं के समान ही किशोर वयस्क कन्याओं और युवतियों की शिक्षा के लिए भी हमें ऐसी महिलाओं की आवश्यकता होगी, जो उन्हें गृहिणी के गुण तथा गृहस्थ-जीवन के लिए उपयुक्त कर्त्तव्यों की शिक्षा दे सकें। वास्तव में ऐसी शिक्षा उन्हीं के द्वारा दी जानी चाहिए, जिन्हें गृह-जीवन का अनुभव हो और जो स्वयं माताएँ हों। आजकल हमारे शिक्षा-क्षेत्र में विशेष रूप से वे ही महिलाएँ कार्य करती हैं, जिन्हें न हमारी संस्कृति का ज्ञान है, न गृह-जीवन का, अतः हमारी कन्याएँ विवाहित जीवन का ऐसा सुनहला स्वप्न लेकर लौटती हैं जो उनके गृहजीवन को अपनी तुलना में कुछ भी सुंदर नहीं ठहरने देता। संभव है, उस जीवन को पाकर वे इतनी प्रसन्न न होतीं, परंतु उसकी संभावित स्वच्छंदता उन्हें गृह के बंधनों से विरक्त किए बिना नहीं रहती।

जब तक हम अपने यहाँ गृहिणियों को बाहर आकर इस क्षेत्र में कुछ करने की स्वतंत्रता न देंगे, तब तक हमारी शिक्षा में व्याप्त विष बढता ही जाएगा। केवल गार्हस्थ्य शास्त्र या संतान-पालन विषयक पुस्तकें पढ़कर कोई किशोरी गृह से प्रेम करना नहीं सीख जाती, इस संस्कार को दृढ़ करने के लिए ऐसी स्त्रियों के सजीव उदाहरण की आवश्यकता है, जो आकाश के मुक्त वातावरण में स्वच्छंद भाव से अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक उड़ने की शक्ति रखकर भी बसेरे को प्यार करनेवाले पक्षी के समान कार्य-क्षेत्र में स्वतंत्र, परंतु घर के आकर्षण से बँधी हों।

स्त्री को बाहर कुछ भी कर सकने का अवकाश नहीं है और बाहर कार्य करने से घर की मर्यादा नष्ट हो जाएगी, इस पुरानी कहानी में विशेष तथ्य नहीं है और हो भी तो नवीन युग उसे स्वीकार न कर सकेगा। यदि किसान की स्त्री घर में इतना परिश्रम करके, खेती के अनेक कामों में पति का हाथ बटा सकती है या साधारण श्रेणी के श्रमजीवियों की स्त्रियाँ घर-बाहर के कार्यों में सामंजस्य स्थापित कर सकती हैं और उनका घर वन नहीं बन जाता तो हमारे यहाँ अन्य स्त्रियाँ भी अपनी शक्ति, इच्छा तथा अवकाश के अनुसार घर के बाहर कुछ करने के लिए स्वतंत्र हैं। अवकाश के समय का दुरुपयोग वे केवल अपनी प्रतिष्ठा की मिथ्या भावना के कारण ही करती हैं और इस मिथ्या भावना को हम बालू की दीवार की तरह गिरा सकते हैं।

यह सत्य है कि हमारे यहाँ ऐसी सुशिक्षिता स्त्रियाँ कम हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में तथा घर में समान रूप से उपयोगी सिद्ध हो सकती हों, परंतु यह भी कम सत्य नहीं कि हमने उनकी शक्तियों को नष्ट-भ्रष्ट कर उनके जीवन को पंगु बनाने में कोई कसर नहीं रखी। यदि वे अपनी बहिनों तथा उनकी संतान के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कुछ कार्य करें तो घर उन्हें जीवनभर के लिए निर्वासन का दंड देगा, जो साधारण स्त्री के लिए सबसे अधिक कष्टकर दंड है। यदि वे जीवनभर कुमारी रहकर संतान तथा सुखी गृहस्थी का मोह त्याग सकें तो इस क्षेत्र में उन्हें स्थान मिल सकता है अन्यथा नहीं। विवाह करते ही सुखी गृहस्थी के स्वप्न सच्ची हथकड़ी-बेड़ी बनकर उनके हाथ-पैर ऐसे जकड़ देते हैं कि उनमें जीवनशक्ति का प्रवाह ही रुक जाता है। किसी बड़भागी के सौभाग्य का साकार प्रमाण बनने के उपलक्ष्य में वे घूमने

के लिए कार पा सकती हैं, पालने के लिए बहुमूल्य कुत्ते-बिल्ली मँगा सकती हैं और इससे अवकाश मिले तो बड़ी-बड़ी पार्टियों की शोभा बढ़ा सकती हैं, परंतु काम करना, चाहे वह देश के असंख्य बालकों को मनुष्य बनाना ही क्यों न हो, उनके पति की प्रतिष्ठा को आमूल नष्ट कर देता है। इस भावना ने स्त्री के मर्म में कोई ठेस नहीं पहुँचाई है, यह कहना असत्य कहना होगा, क्योंकि उस दशा में विवाह से विरक्त युवतियों की इतनी अधिक संख्या कभी नहीं मिलती। कुछ व्यक्तियों में वातावरण के अनुकूल बन जाने की शक्ति अधिक होती है और कुछ में कम, इसीसे किसी का जीवन निरानंद नहीं हो सका और किसी का सानंद नहीं बन सका। परंतु परिस्थितियाँ प्रायः एक-सी ही रहीं।

आधुनिक शिक्षाप्राप्त स्त्रियाँ अच्छी गृहणियाँ नहीं बन सकतीं, यह प्रचलित धारणा पुरुष के दृष्टिविन्दु से देखकर ही बनाई गई है, स्त्री की कठिनाई को ध्यान में रखकर नहीं। एक ही प्रकार के वातावरण में पले और शिक्षा पाए हुए पति-पत्नी के जीवन तथा परिस्थितियों की यदि हम तुलना करें तो संभव है आधुनिक शिक्षित स्त्री के प्रति कुछ सहानुभूति का अनुभव कर सकें। विवाह से पुरुष को तो कुछ छोड़ना नहीं होता और न उसकी परिस्थितियों में कोई अंतर ही आता है, परंतु इसके विपरीत स्त्री के लिए विवाह मानो एक परिचित संसार छोड़कर नवीन संसार में जाना है, जहाँ उसका जीवन सर्वथा नवीन होगा। पुरुष के मित्र, उसकी जीवनचर्या, उसके कर्तव्य सब पहले जैसे ही रहते हैं और वह अनुदार न होने पर भी शिक्षिता पत्नी के परिचित मित्रों, अध्ययन तथा अन्य परिचित दैनिक कार्यों के अभाव को नहीं देख पाता। साधारण परिस्थिति होने पर भी घर में इतर कार्यों से स्त्री को अवकाश रहता है, संयुक्त कुटुंब न होने से बड़े परिवार के प्रबंध की उलझनें भी नहीं घेरे रहतीं, उसके लिए पुरुष मित्र वर्ज्य हैं, और उसे मित्र बनाने के लिए शिक्षिता स्त्रियाँ कम मिलती हैं, अतः एक विचित्र अभाव का उसे बोध होने लगता है। कभी-कभी पति के, आने-जाने जैसी छोटी बातों में, बाधा देने पर वह विरक्त भी हो उठती है। अच्छी गृहिणी कहलाने के लिए उसे केवल पति की इच्छा के अनुसार कार्य करने तथा मित्रों और कर्तव्यों से अवकाश के समय उसे प्रसन्न रखने के अतिरिक्त और विशेष कुछ नहीं करना होता, परंतु यह छोटा-सा कर्त्तव्य

उसके महान अभाव को नहीं भर पाता।

ऐसी शिक्षिता महिलाओं के जीवन को अधिक उपयोगी बनाने तथा उनके कर्त्तव्यों को अधिक मधुर बनाने के लिए हमें उन्हें बाहर भी कुछ कर सकने की स्वतंत्रता देनी होगी। उनके लिए घर-बाहर की समस्या का समाधान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है, अन्यथा उनके मन की अशांति, घर की शांति और समाज का स्वस्थ वातावरण नष्ट कर देगी। हमें बाहर भी उनके सहयोग की इतनी ही आवश्यकता है जितनी घर में, इसमें संदेह नहीं।

शिक्षा के क्षेत्र के समान, चिकित्सा के क्षेत्र में भी स्त्रियों का सहयोग वांछनीय है। हमारा स्त्री-समाज कितने रोगों से जर्जर हो रहा है, उसकी संतान कितनी अधिक संख्या में असमय ही काल का ग्रास बन रही है, यह पुरुष से अधिक स्त्री की खोज का विषय है। जितनी अधिक सुयोग्य स्त्रियाँ इस क्षेत्र में होंगी उतना ही अधिक समाज का लाभ होगा। स्त्री में स्वाभाविक कोमलता पुरुष की अपेक्षा अधिक होती है, साथ ही पुरुष के समान व्यवसाय-बुद्धि प्रायः उसमें नहीं रहती, अतः वह इस कार्य को अधिक सहानुभूति तथा स्नेह के साथ कर सकती है। अपने सहज स्नेह तथा सहानुभूति के कारण ही रोगी की परिचर्या के लिए नर्स ही रखी जाती है। यह सत्य है कि न सब पुरुष ही इस कार्य के उपयुक्त होते हैं और न सब स्त्रियाँ, परंतु जिन्हें इस गुरुतम कर्त्तव्य के लिए रुचि और सुविधाएँ दोनों ही मिली हैं, उन स्त्रियों का इस क्षेत्र में प्रवेश करना उचित ही होगा। कुछ इनी-गिनी स्त्री-चिकित्सक हैं भी, परंतु समाज अपनी आवश्यकता के समय ही उनसे संपर्क रखता है। उनका शिक्षिकाओं से अधिक बहिष्कार है, कम नहीं। ऐसी महिलाओं में से, जिन्होंने सुयोग्य और संपन्न व्यक्तियों से विवाह करके बाहर के वातावरण की नीरसता को घर की सरसता से मिलाना चाहा, उन्हें प्रायः असफलता ही प्राप्त हो सकी। उनका इस प्रकार घर की सीमा से बाहर कार्य करना पतियों की प्रतिष्ठा के अनुकूल न सिद्ध हो सका, इसलिए अंत में उन्हें अपनी शक्तियों को घर तक ही सीमित रखने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे पारिवारिक जीवन में कितनी सुखी हुईं, यह कहना तो कठिन है, परंतु उन्हें इस प्रकार खोकर स्त्री-समाज अधिक प्रसन्न न हो सका। यदि झूठी प्रतिष्ठा की भावना इस प्रकार बाधा न डालती और वे अवकाश के समय का कुछ अंश इस कर्त्तव्य के लिए भी रख सकतीं तो अवश्य ही

समाज का अधिक कल्याण होता।

चिकित्सा के समान कानून का क्षेत्र भी स्त्रियों के लिए उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। यदि स्त्रियों में ऐसी बहिनों की पर्याप्त संख्या रहती, जिनके निकट कानून एक विचित्र वस्तु न होता तो उनकी इतनी अधिक दुर्दशा न हो सकती। स्त्री-समाज के ऐसे प्रतिनिधि न होने के कारण ही किसी भी विधान में, समय तथा स्त्री की स्थिति के अनुकूल कोई परिवर्तन नहीं हो पाता और न साधारण स्त्रियाँ अपनी स्थिति से संबंध रखनेवाले किसी कानून से परिचित ही हो सकती हैं। साधारण स्त्रियों की बात तो दूर रही, शिक्षिताएँ भी इस आवश्यक विषय से इतनी अनभिज्ञ रहती हैं कि अपने अधिकार और स्वत्वों में विश्वास नहीं कर पातीं। सहस्रों की संख्या में वकील और बैरिस्टर बने हुए पुरुषों के मुख से इस कार्य को आत्मा का हनन तथा असत्य का पोषण सुन-सुनकर उन्होंने असत्य को इस प्रकार त्यागा कि सत्य को भी न बचा सकीं। वास्तव में ऐसे विषयों में स्त्री की अज्ञता उसी की स्थिति को दुर्बल बना देती है, क्योंकि उस दशा में न वह अपने अधिकार का सच्चा रूप ज़ानती है और न दूसरे के स्वत्वों का, जिससे पारस्परिक संबंध में सामंजस्य उत्पन्न हो ही नहीं पाता! वकील-बैरिस्टर महिलाओं की संख्या तो बहुत ही कम है और उनमें भी कुछ ही गृहजीवन से परिचित हैं।

प्राय: पुरुष यह कहते सुने जाते हैं कि बहुत पढ़ी-लिखी या कानून जाननेवाली स्त्री से विवाह करते उन्हें भय लगता है। जब एक निरक्षर स्त्री बड़े-से-बड़े विद्वान से, कानून का एक शब्द न जाननेवाली वकील या बैरिस्टर से और किसी रोग का नाम भी न बता सकने वाली बड़े-से-बड़े डाक्टर से विवाह करते भयभीत नहीं होती तो पुरुष ही अपने समान बुद्धिमान तथा विद्वान स्त्री से विवाह करने में क्यों भयभीत होता है? इस प्रश्न का उत्तर पुरुष के उस स्वार्थ में मिलेगा जो स्त्री से अंधभक्ति तथा मूक अनुसरण चाहता है। विद्या-बुद्धि में जो उसके समान होगी, वह अपने अधिकार के विषय में किसी दिन भी प्रश्न कर ही सकती है; संतोषजनक उत्तर न पाने पर विद्रोह भी कर सकती है, अत: पुरुष क्यों ऐसी स्त्री को संगिनी बनाकर अपने साम्राज्य की शांति भंग करे? जब कभी किसी कारण से वह ऐसी जीवनसंगिनी चुन भी लेता है तो सब प्रकार के कोमल-कठोर साधनों से

उसे अपनी छाया मात्र बनाकर रखना चाहता है, जो प्रायः संभव नहीं होता।

इन कार्यक्षेत्रों के अतिरिक्त स्त्री तथा बालकों के लिए अन्य उपयोगी संस्थाओं की स्थापना कर उन्हें सुचारु रूप से चलाना, स्त्रियों में संगठन की इच्छा उत्पन्न करना, उन्हें सामयिक स्थिति से परिचित कराना आदि कार्य भी स्त्रियों के ही हैं और इन्हें वे घर से बाहर जाकर ही कर सकती हैं। इन सब कार्यों के लिए स्त्रियों को अधिक संख्या में सहयोग देना होगा, अतः यह आशा करना कि ऐसे बाहर के उत्तरदायित्व को स्वीकार करनेवाली सभी स्त्रियाँ परिवार को त्याग, गृह-जीवन से विदा लेकर बौद्ध भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करें, अन्याय ही है। कुछ स्त्रियाँ ऐसा जीवन भी बिता सकती हैं, परंतु अन्य सबको घर और बाहर सब जगह कार्य करने की स्वतंत्रता मिलनी ही चाहिए।

इस संबंध में आपत्ति की जाती है कि जब स्त्री अपना सारा समय घर की देखरेख और संतान के पालन के लिए नहीं दे सकती तो उसे गृहिणी बनने की इच्छा ही क्यों करनी चाहिए? इस आपत्ति का निराकरण तो हमारे समाज की सामयिक स्थिति ही कर सकती है। स्त्री के गृहस्थी के प्रति कर्त्तव्य की मीमांसा करने के पहले यदि हम यह भी देख लेते कि आजकल का व्यस्त पुरुष पत्नी और संतान के प्रति ध्यान देने का कितना अवकाश पाता है तो अच्छा होता। जिस श्रेणी की स्त्रियों को बाहर भी कुछ कर सकने का अवकाश मिल सकता है उनके डाक्टर, वकील या प्रोफेसर पति अपने दैनिक कार्य, सार्वजनिक कर्त्तव्य तथा मित्रमंडली से केवल रात के बसेरे के लिए ही अवकाश पाते हैं और यदि मनोविज्ञान से अपरिचित पत्नी ने उस समय घर या संतान की कोई चर्चा छेड़ दी तो या तो उनके दोनों नेत्र नींद से मुँद जाते हैं या तीसरा क्रोध का नेत्र खुल जाता है।

परंतु ऐसी गृहिणियों को जब हम अन्य सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के लिए आमंत्रित करेंगे तब समाज की इस शंका का कि इनकी संतान की क्या दशा होगी, उत्तर भी देना होगा। स्त्री बाहर भी अपना कार्यक्षेत्र बनाने के लिए स्वतंत्र हो और यह स्वतंत्रता उसे निर्वासन का दंड न दे सके, इस निष्कर्ष तक पहुँचने का यह अर्थ नहीं है कि स्त्री प्रत्येक दशा में सार्वजनिक कर्त्तव्य के बंधन से मुक्त न हो सके। ऐसी कोई माता नहीं होती, जो अपनी संतान को अपने प्राण के समान नहीं चाहती। पुरुष के लिए

बालक का वह महत्त्व नहीं है, जो स्त्री के लिए है, अतएव यह सोचना कि माता अपने शिशु के सुख की बलि देकर बाहर कार्य करेगी, मातृत्व पर कलंक लगाना है। आज भी सार्वजनिक क्षेत्रों में कुछ संतानवती स्त्रियाँ कार्य कर रही हैं और निश्चय ही उनकी संतान कुछ न करनेवाली स्त्रियों की संतान से अच्छी ही है। कैसा भी व्यस्त जीवन बितानेवाली श्रांत माता अपने रोते हुए बालक को हृदय से लगाकर सारी क्लांति भूल सकती है, परंतु पुरुष के लिए ऐसा कर सकना संभव ही नहीं है। फिर केवल हमारे समाज में ही माताएँ नहीं हैं, अन्य ऐसे देशों में भी हैं, जहाँ उन्हें और भी उत्तर-दायित्व सँभालने होते हैं। हमारे देश में भी साधारण स्त्रियाँ मातृत्व को ऐसा भारी नहीं समझतीं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि पुरुष पंख काटकर सोने के पिंजरे में बंद पक्षी के समान स्त्री को अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा की बंदिनी न बनाए। यदि विवाह सार्वजनिक जीवन से निर्वासन न बने तो निश्चय ही स्त्री इतनी दयनीय न रह सकेगी। घर से बाहर भी अपनी रुचि, शिक्षा और अवकाश के अनुरूप जो कुछ वह करना चाहे उसमें उसे पुरुष के सहयोग और सहानुभूति की अवश्य ही अपेक्षा रहेगी और पुरुष यदि अपनी वंशक्रमागत अधिकारयुक्त अनुदार भावना को छोड़ सके तो बहुत-सी कठिनाइयाँ स्वयं दूर हो जाएँगी।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखिका के अनुसार आज की शिक्षा बालिकाओं को गृहस्थ-जीवन से विरक्त क्यों बना देती है ?

२. गृहस्थ-जीवन के बाहर समाज के किन क्षेत्रों में नारी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकती है ?

३. सामाजिक जीवन को संतुलित और सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिए लेखिका ने क्या परामर्श दिए हैं ?

४. निम्नलिखित शब्दों के विपर्यय दीजिए :
निरक्षर, अनभिज्ञ, नीरसता, उपयुक्त, विरक्त।

५. नीचे दिए शब्दों का संधि-विच्छेद कीजिए :
निरंतर, निरानंद, निरक्षर, अनुदार, अनभिज्ञ।

६. निम्नलिखित उद्धरण की व्याख्या कीजिए:

इस संस्कार को दृढ़ करने के लिए ऐसी स्त्रियों के सजीव उदाहरण की आवश्यकता है जो आकाश के मुक्त वातावरण में स्वच्छंद भाव से अधिक-से-अधिक ऊँचाई तक उड़ने की शक्ति रखकर बसेरे को प्यार करनेवाले पक्षी के समान कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र, परंतु घर के आकर्षण से बँधी हों।

नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र का जन्म अतरौली, जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) में सन् १९१५ ई० में हुआ था। ये अंग्रेजी तथा हिन्दी-साहित्य के एम० ए० हैं। आगरा विश्वविद्यालय से इन्होंने सन् १९४७ ई० में डी० लिट० की उपाधि प्राप्त की। आरंभ में, कुछ वर्षों तक, दिल्ली के कॉमर्स कालेज में अंग्रेजी साहित्य का अध्यापन किया; फिर आकाशवाणी में हिन्दी-समाचार-विभाग के अधीक्षक रहे और आजकल ये दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

नगेन्द्र जी ने कवि-रूप में साहित्य में प्रवेश किया पर, शीघ्र ही 'समालोचना' इनका विशेष क्षेत्र बन गई। 'सुमित्रानंदन पंत' इनकी पहली आलोचना-पुस्तक है। इसके उपरांत 'साकेत : एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक', 'विचार और अनुभूति', 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता', 'अनुसंधान और आलोचना', 'आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि इनके अनेक आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इन्होंने 'अभिनवभारती', 'ध्वन्यालोक' आदि ग्रंथों के हिन्दी-भाष्यों का संपादन किया है और इन ग्रंथों की मार्मिक भूमिकाएँ लिखी हैं। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' के षष्ठ भाग का संपादन भी इन्होंने किया है।

नगेन्द्र जी काव्यशास्त्र, रीति-साहित्य और आधुनिक काव्य के मर्मज्ञ आलोचक हैं। तत्त्वचिन्तक होने के साथ ही इन्होंने कवि-हृदय भी पाया है। इनकी चिन्तन-शक्ति जहाँ कवि की कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण और उपयुक्त मूल्यांकन करने में समर्थ है, वहाँ इनकी भावुकता सहज ही कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

शास्त्रीय आलोचना के अतिरिक्त नगेन्द्र जी के कुछ ऐसे निबंध भी हैं जिनका मूल स्वर वैयक्तिक है। वहाँ ये आलोचक की गंभीर मुद्रा छोड़ जीवन के उल्लासपूर्ण क्षेत्र में विचरण करने लगते हैं।

इनकी शैली सतर्क एवं प्रखर है। ऐसा प्रतीत होता है लेखक प्रत्येक शब्द का नाप-तोलकर प्रयोग कर रहा है। प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अंग-उपांग-सहित व्यवस्थित और सुगठित रहता है।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने यह स्थापित किया है कि भाषागत विभिन्नताएँ होते हुए भी संपूर्ण भारतीय साहित्य मूलतः एक है।
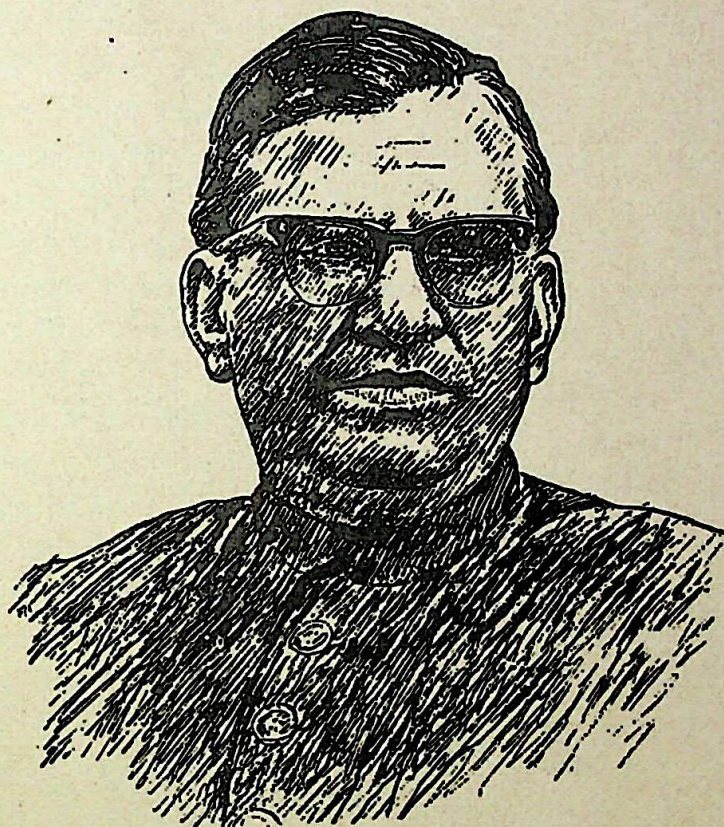
नगेन्द्र

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं जिनका साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है—जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिन्धी, कोंकणी, तुरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनंत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है। ज्ञान का अपार भांडार—हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, उधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएँ कितनी मिली हुई हैं। किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है। इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओतप्रोत है, किन्तु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति संभव है ? दक्षिण की भाषाओं का उद्‌गम एक है : सभी द्रविण परिवार की विभूतियाँ हैं, परंतु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है ? यही बात बंगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बंगला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक

धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज-संभव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार-तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है 'कविराजमार्ग' जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट-वंश के नरेश नृपतुंग (८१४-८७७ ई०), और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा-स्वरूप आदि की अनेक समस्याएँ हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदि-ग्रंथ सन् ११८५ ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहुबलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बंगला के चर्यागीतों की रचना शायद १०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया-साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अंत के हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रह्लाद-चरित' तथा 'हरगौरीसंवाद'। उड़िया भाषा में भी तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोक-गीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है (यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरंभ पंद्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पंद्रहवीं शती तक

चलता है। पूर्व-मध्यकाल की समाप्ति मुगल-वैभव के अंत अर्थात् १७वीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरंभ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है, सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानांतर विकास-क्रम का आधार अत्यंत स्पष्ट है और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है। मुगल-शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ संपर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता खंडित हो जाने के बाद भी यह संपर्क टूटा नहीं। मुगल-शासन के पहले भी राज्य-विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत-सम्राट तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामंतीय शासन-प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ-संप्रदाय उठ खड़ा हुआ तो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरंभ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव-पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धांत-प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन

संप्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-संप्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत-संप्रदाय वेदांत-दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण-भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी संतों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इनके पश्चात् वैष्णव आंदोलन का आरंभ हुआ जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्त्व- जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनंदमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ, जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाए और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अँग्रेज़ों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है। विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ संपर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचार-

धारा के प्रचार से द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुंठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नये प्रयोग और अंत में स्वतंत्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार——यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप रेखा है, जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य——अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ; पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद, षड्दर्शन, स्मृतियाँ आदि और उधर काव्यशास्त्र के अमर ग्रंथ——नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरंतर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणास्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यंत समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राज-नीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तु अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है, किन्तु काव्यशैलियों और काव्य-रूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियाँ——महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश-परंपरा की भी अनेक शैलियाँ-जैसे चरित-काव्य, प्रेमगाथा-शैली, रास, पद-शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छंदों के अतिरिक्त अनेक देशी छंद——दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छंद हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छंदों का——जैसे प्रगीतकाव्य

और उसके अनेक भेदों, संबोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी और मुक्त छंद, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलत: भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों---आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यंत निस्संग भाव से, सत्य-शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यंत अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए, मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बंगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टत: अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक सी प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परंपरा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी-काव्य में घटनेवाली आकस्मिक या ऐकांतिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पंद्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव

ने अपने बड़गीतों में अत्यंत मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझाकर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यों का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफी काव्य के मर्म को समझने में फारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिन्धी, पंजाबी, और उर्दू—में विद्यमान तत्संबंधी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के राम-चरितमानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृद्गत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहाँ के कृष्ण -काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतःसाहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जाएगा और उधर भारतीय चिन्ताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखंड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधाताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है, प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाए। पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषावर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है। उनमें तो रूपांतर, यहाँ तक कि लिप्यंतर भी, आवश्यक नहीं है। जैसे, बंगला और असमिया में या हिन्दी और मराठी में, या तेलगू और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में लिप्यंतर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है। यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक इतिहास, परिचय, तुलनात्मक

अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अंत:साहित्यिक गोष्ठियाँ आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएँ इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरंभिक अवस्था में ही है। इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने-आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

प्रश्न और अभ्यास

१. भारत में 'राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है' लेखक के इस विचार को स्पष्ट कीजिए।
२. लेखक के अनुसार भारतीय साहित्य की एकता के मूल तत्त्व क्या हैं?
३. पूर्व और पश्चिम के संपर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म किस प्रकार हुआ?
४. इस पाठ से उदाहरण देकर लेखक की भाषा-शैली की विशेषताएँ बताइए।
५. निम्नलिखित उद्धरण का भाव स्पष्ट कीजिए:
जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, उसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास धीरे-धीरे हो रहा है।

जगदीशचंद्र माथुर

जगदीशचंद्र माथुर का नाम नाटककार और निबंधकार के रूप में विख्यात है। उच्चस्तरीय प्रशासनिक दायित्व के सम्मान-पूर्ण पदों को सँभालते हुए श्री माथुर अपने नाटकों और निबंधों से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे हैं। नाट्य साहित्य और रंगमंच का उन्होंने विवेचना-पूर्ण अध्ययन किया था। प्राचीन भारत के गौरवमय इतिहास और संस्कृति ने तो श्री माथुर की प्रतिभा को प्रेरणा दी ही है, वर्तमान की वास्तविकता ने भी उसे कम नहीं प्रभावित किया है।

श्री माथुर ने रंगमंच के संबंध में अनेक प्रयोग किए हैं। इस प्रसंग में 'भारतीय ग्रामीण अंचल के नाटक' तथा 'बिहार थियेटर' नामक त्रैमासिक पत्रिका उल्लेखनीय है। बिहार में शिक्षा-सचिव के पद पर रहते हुए श्री माथुर ने इस राज्य में सांस्कृतिक जागरण का जो शंख फूंका, उसकी गूंज आज भी सुनाई पड़ रही है।

अपने उत्साह-पूर्ण कर्ममय जीवन में श्री माथुर अनेक असाधारण व्यक्तियों के संपर्क में आए। इनमें शिक्षाविद्, प्रशासक, संगीतज्ञ, अभिनेता, लेखक, कवि, समाज-सेवी तथा अन्य लोक-कार्यकर्ता—सब प्रकार के लोग हैं। श्री माथुर ने इनमें से कुछ के चरित-लेख प्रस्तुत किए हैं। इन चरित-लेखों में ललित और गंभीर साहित्य का निखरा हुआ स्वरूप सामने आता है।

श्री माथुर की पुस्तकों में 'कोणार्क', 'शारदीया', 'ओ मेरे सपने', 'भोर का तारा', 'कुंअर सिंह की टेक' तथा 'दस तस्वीरें' प्रमुख हैं। 'दस तस्वीरें' दस चरित-लेखकों का संग्रह है।

'एक जन्मजात चक्रवर्ती' नामक पाठ में श्री माथुर ने बिहार के डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा के जीवंत व्यक्तित्व की कुछ मनोहर झलकियाँ प्रस्तुत की हैं।

जगदीशचंद्र माथुर

एक जन्मजात चक्रवर्ती

जिन्दगी की सवारी कोई बोरे की तरह लदकर करता है, कोई जान पर खेलकर सरकस के नट की तरह, और कोई-कोई गंगा की मौजों पर लरजते बजरे पर शान से तकिया लगाकर बैठे उस रईस की तरह, जिसके मुँह में चाँदी के कलापूर्ण हुक्के की नली हो, तटवर्ती दृश्यों पर जो निगाह भी डालता हो और रिमार्क भी कसता हो, और जो एक चक्रवर्ती महाराज की भाँति अभयदान तथा आदेश प्रदान करता हो। डा० सच्चिदानंद सिन्हा इसी श्रेणी के जन्मजात चक्रवर्ती सर्वेक्षक थे। अनुभवों की महफिल उनके मन के आँगन में जमती ही रहती, कभी उखड़ी नहीं। जमाने गुजर गए। लगभग अस्सी ऋतु-परिवर्तनों की अठखेलियाँ देखीं, लेकिन कोई ऊब नहीं, कोई मलाल नहीं। बीती बात उन्हें उलझा नहीं पाती और आगे आने वाला कल उन पर हावी नहीं हो पाता। क्षण की तह में जो चिरनवीन रस है, उसी का आस्वादन करते, क्षण की मर्यादा को ही डंके की चोट पर घोषित करते।

सन् १९४१ की बात है। मैं उसी वर्ष सरकारी नौकरी में आया था और चूँकि मेरी तैनाती बिहार प्रांत में हुई, इसलिए पहली बार पटना की लघु-यात्रा पर बिहार के वरिष्ठ और सर्वमान्य नेता डा० सिन्हा के दर्शन करना लाजिमी था। अपने मित्र और मेजबान त्रिवेणी प्रसाद सिंह से कहा और उन्होंने टेलीफोन किया। बोले, जरूर आओ। आज ही शाम को और सुनो, तुम दोनों खाना भी यहीं खा लेना। तुम तो जानते ही हो, आज तक अकेले खाना मैंने कभी खाया ही नहीं।

अकेले खाना कभी नहीं खाया। सिन्हा साहब की पत्नी बहुत पहले ही जाती रही थीं। मेरी पीढ़ी के लोगों के लिए यह उस परदे के पीछे की बात थी, जो कभी का गिर चुका था। लेकिन उनके विधुर-जीवन को हम लोगों ने भरा-पूरा ही देखा। उनकी घर-गिरस्ती का दायरा कभी संकीर्ण नहीं हुआ। पटना में कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति—विदेशी अथवा भारतीय—आए, तो यह निश्चित था कि वह सिन्हा साहब के यहाँ ठहरेगा अथवा

कम-से-कम भोजन तो उनके यहाँ ही करेगा। कोई स्वार्थ नहीं, कोई चाटु-कारिता नहीं। केवल अधिकार। पुराने लोगों में पटना में श्री पी० आर० दास को छोड़कर वही एक बच गए थे सन् १९४० तक आते-आते। इसीलिए उन्हीं का सत्वाधिकार था प्रांत के विशेष अतिथियों पर, और वह शान के साथ उस अधिकार का उपयोग करते।

वह डिनर टेबुल। देश के बड़े-से-बड़े राजनीतिक नेताओं से लेकर गवर्नरों और वाइसराय के एक्जीक्यूटिव काउंसिलर तक, और पाश्चात्य देशों के प्रकांड विद्वानों से लेकर छोटे-मोटे तुक्कड़ कवियों तक--सभी तो उस टेबुल पर खा चुके थे। खुद तो कम ही आते; लेकिन इंतजाम पूरा होता। फिर भी भोजन गौण था, वातावरण प्रधान। सरोजिनी नायडू को छोड़कर उस जमाने में केवल उन्हीं को आटोक्रैट आफ डिनर टेबुल (डिनर टेबुल एकाधिपति) कहा जा सकता था। चर्चा होती, पुरानी और नई तत्कालीन समस्याओं का विवेचन होता, कुछ छींटाकशी होती, कुछ स्मृति-रेखाएँ उभरतीं। लेकिन यह कहना गलत होगा कि उस डिनर टेबुल के चारों ओर किसी के भाग्य का निपटारा होता या प्रांत अथवा देश की राजनीतिक समस्याओं के बारे में गुपचुप निर्णय होते। शायद मांटफोर्ड रिफार्म्स के बाद जब कुछ समय के लिए डा० सिन्हा बिहार के एक्जीक्यूटिव काउंसिलर थे, तब भले ही उस तरह की वार्ताएँ होती रही हों। किन्तु स्वभावत: डा० सिन्हा के व्यक्तित्व की यमुना वासुदेव के चरणों के समान गांभीर्य के चरण-स्पर्श करते ही लौट आती अपने चिरपरिचित कलकल ध्वनि-गुंजित् प्रवाह पर।

क्या गंभीर विवेचन और वार्ता सच ही उनके स्वभाव के विपरीत थे? ऊपर से हम लोगों को अक्सर ऐसा ही जान पड़ता। सन् १९४६-४७ में बिहार विधानसभा में किसी गंभीर मसले पर (शायद सांप्रदायिक झगड़ों के संबंध में) बहस हो रही थी। मेरे मित्र श्री लल्लन प्रसाद सिंह, जो उस समय सांप्रदायिक झगड़ों के विषय में प्रबंध के लिए पटना जिले के विशेष अधिकारी बनाए गए थे, ऑफिशियल गैलरी में बैठे थे। मैं भी वहीं था। डा० सिन्हा विधानसभा के सदस्य थे। हम लोगों के करीब आए और कुछ हलकी-फुलकी बातें करके चले गए। लल्लन प्रसाद सिंह बोले, क्या यह व्यक्ति अवसर की गरिमा को नहीं पहचानता या जान-बूझकर

इस समय गंभीर मसलों से परे रहना चाहता है ? लेकिन दो बरस में ही लल्लन प्रसाद सिंह डा० सिन्हा को और करीब से देख सके। कभी-कभी शाम को वह सिन्हा साहब के निजी कमरे में जा पहुँचते। तब शायद उन्हें मालूम हुआ, जैसा मुझे भी आभास हुआ कि सच्चिदानन्द सिन्हा जीवन के समतल पथ पर ही नहीं चले हैं, घाटियों और चट्टानों पर से भी गुजरे हैं। उन्होंने मेलों की छटा देखी है, लेकिन बटमारों और पाकिटमारों के करतब भी देखे हैं। वह जानते हैं कि कौन नट कैसी कला दिखा सकता है, पैर किसके सधे हैं, आँखें किसकी पैनी हैं। आदमी की खरी पहचान जीवन में गहराई से पैठनेवाला ही कर सकता है, लेकिन अक्सर यह खुर्दबीन जिसके हाथ लगा, वह वितृष्णा और कटुता-भरी बातें कहने में विशेष प्रकार की आत्मतुष्टि पाता है। सच्चिदानंद सिन्हा इस कटुता से क्योंकर बच सके, इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि कटु प्रसंगों से कोई काम पूरा होने में सहायता नहीं मिलती—यह उन्होंने अपने अनुभव से पहचाना होगा। और दूसरे यह कि कटुता तो उसी पर हावी होगी, जो अपने जीवन के कर्मक्षेत्र में दाँत भींचे, मुट्ठियाँ बाँधे, पसीना बहाता हुआ सफलता के लिए जूझ पड़ा हो, जो अपने जीवन को एक के बाद एक मिशनों का तोता मानकर, एक हाथ में खड्ग और दूसरे में ध्वज लेकर प्रगति का पथिक बना हो। सफलता की मरीचिका के फेर में शायद सिन्हा साहब पड़े नहीं और यदि पड़े, तो असफलता की बालुका-राशि उनकी आँखों में किरकिरी बनकर गड़ी नहीं। लगता कि अपनी असफलताओं की स्मृतियों को उन्होंने ऐसे ही तिरस्कृत कर दिया, जैसे वह अपने बढ़िया सिले और धुले सूट पर से आकस्मिक आ पड़ी धूल को झाड़ देते हों। मिशनरी की भाँति समाज और राजनीति को पलट देने की आकांक्षाओं के आग्रह से सिन्हा साहब बरी रहे। भारतवर्ष में आदर्शवादिता और आवेशपूर्ण प्रेरणाओं के उस युग में सिन्हा साहब तथ्यपरकता, मनमौजीपन और हल्की-सी अनास्था के प्रतीक थे।

शायद ! शायद, इसलिए कि एकाध चीज में उनका मोह और उनकी लगन की प्रबलता झाँकी देती थी ऐसे अंतस्तल की, जो आदर्शों से आलोड़ित तो होता था, लेकिन शब्दों में उन आदर्शों को प्रकट करना नहीं चाहता था। सिन्हा लाइब्रेरी बिहार को उनकी अमर देन है। वह

उनकी अपूर्व निधि भी थी, जिसे उन्होंने बड़े शौक से अनेक वर्षों में सँवारकर तैयार किया था। अनगिनती पुस्तकें उन्होंने खरीदीं, अनगिनती ही उनके पास भेंट-स्वरूप आईं। जब कोई पुस्तक आती, तो जैसी उनकी हृतंत्री का कोई तार छू जाता, लाल-नीली पेंसिल उठाते, पहले पृष्ठ पर अपना नाम लिखते (क्या दबंग दस्तखत थे उनके) और पढ़ने बैठ जाते। आद्योपांत तो कम ही पुस्तके पढ़ पाते, लेकिन जगह-जगह डुबकियाँ लगाते और लाल-नीली पेंसिल से रेखाएँ खींच देते। सिन्हा लाइब्रेरी के पाठकवृंद उन रेखाओं से सुपरिचित हैं। जाहिरन वे रेखाएँ पुस्तकों के मालिक के अधिकार की द्योतक हैं, किन्तु उनके पीछे पुस्तकों के एक अनन्य उपासक, पुस्तकालयों की महिमा के पोषक, ज्ञान-राशि के विस्तार के समर्थक सिन्हा साहब की मौन आदर्शवादिता है।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि उस लाइब्रेरी के प्रबंध की उपयुक्त व्यवस्था हो जाए। ट्रस्ट पहले से मौजूद था, लेकिन आवश्यकता यह थी कि सरकारी उत्तरदायित्व भी स्थिर हो जाए। ऐसा मसविदा तैयार करना कि जिसमें ट्रस्ट का अस्तित्व भी न टूटे और सरकार द्वारा संस्था की देखभाल और पोषण की भी गारंटी मिल जाए, जरा टेढ़ी खीर थी। एक दिन एक चाय-पार्टी के दौरान सिन्हा साहब मेरे पास चुपके से आकर बैठ गए। सन् १६४६ की बात है। मैं नया-नया शिक्षा सचिव हुआ था, लेकिन सिन्हा साहब की मौजूदगी में मेरी क्या हस्ती? इसीलिए जब मेरे पास बैठे और जरा विनीत स्वर में उन्होंने सिन्हा लाइब्रेरी की दास्तान कहनी शुरू की, तो मैं सकपका गया। मन में सोचने लगा कि जो सिन्हा साहब मुख्यमंत्री, शिक्षा-मंत्री और गवर्नर तक से आदेश के स्वर में सिन्हा लाइब्रेरी-जैसी उपयोगी संस्था के बारे में बातचीत कर सकते हैं, वह मुझ जैसे कल के छोकरे को क्यों सर चढ़ा रहे हैं? उस वक्त तो नहीं, किन्तु बाद में गौर करने पर दो बातें स्पष्ट हुईं। एक तो यह कि मैं भले ही समझता रहा हूँ कि मेरी लल्लो-चप्पो हो रही है, किन्तु वस्तुत: उनका विनीत स्वर उनके व्यक्तित्व के उस साधारणतया अलक्षित और आर्द्र पहलू की आवाज थी, जो पुस्तकों तथा सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति उनकी भावुकता के उमड़ने पर ही मुखरित होता था। और दूसरी बात यह स्पष्ट हुई कि सिन्हा साहब कायदे के पाबंद हैं। पुराने जमाने में मिनिस्टर

के ओहदे पर रह चुके थे, जबकि अंग्रेज अफसर और गवर्नर इत्यादि सरकारी कारबार में सीढ़ी फलांगने को नापसंद करते थे, यानी चाहते थे कि सरकारी मामलों में प्रस्ताव इत्यादि नियमानुसार ही आगे बढ़ें और पहले उन अफसरों इत्यादि के हाथों गुजरें, जो महकमे की बाजाब्ता कार्यविधि के लिए जिम्मेदार हैं। यह एक तरह का सरकारी शिष्टाचार था, जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही हलचल में प्रायः तिरोहित हो गया है। सिन्हा साहब ने इसीलिए पहले मुझसे ही बात करना मुनासिब समझा। शिष्टाचार और कायदे की पाबंदी के अनेक उदाहरण उनके जीवन में बिखरे पड़े थे। एक बार उनके यहाँ किसी कमेटी की मीटिंग हो रही थी। मैं भी मौजूद था। किसी कार्यवश मुझे टेलीफोन करने की जरूरत आ पड़ी। सामने ही उनका टेलीफोन था। मैंने उनसे पूछा, सर, क्या आपका टेलीफोन इस्तेमाल कर सकता हूँ ? उन्होंने अनुमति दी और कमेटी के सदस्यों से बोले, देखा इस युवक को। कितनी तमीज है कि मुझसे पूछकर ही टेलीफोन उठाया ? श्री......, अगर तुम होते, तो बिना पूछे, भड़भड़ाकर टेलीफोन उठाकर बात करने लगते। यह सुनते ही मेरी तो सिट्टी गुम हो गई, क्योंकि जिन सज्जन से उन्होंने यह बात कही थी, वह प्रांत के एक प्रभावशाली व्यक्ति थे और मेरे लिए बुजुर्ग के समान।

कई छोटी-छोटी बातें याद आती हैं। नौकरी के लिए परीक्षा में बैठने के बाद मुझे धुन सवार हुई कि अंग्रेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखूँ। लगभग अपरिचित होते हुए भी सिन्हा साहब को लिखा। उनका तुरंत उत्तर आया और साथ में सिन्हा लाइब्रेरी में अंग्रेजी में हिन्दी-विषयक जितनी पुस्तकें थीं, उनकी फेहरिस्त भी। जब मैं उड़ीसा के संबलपुर जिले में तैनात था, तब वहीं १९४३ में मेरे पिता का देहावसान हुआ। किसी अखबार में समाचार पढ़कर सिन्हा साहब ने झट से संवेदना सूचक तार भेजा, यद्यपि उस समय तक भी मेरा परिचय अल्प ही था और मैं कोई सत्ताधारी अफसर तो था नहीं। वस्तुतः अगर कोई उनके साथ सत्ताधारी का-सा व्यवहार करता, तो उसे मुँह की खानी पड़ती। स्नेहपात्रों पर न सिर्फ वरदहस्त होता, बल्कि उनकी छोटी-से-छोटी उपलब्धियों पर तुरंत शाबाशी देते। हाजीपुर सब-डिवीजन में १९४५ में मैंने वैशाली महोत्सव का श्रीगणेश किया। किसी अखबार में सराहना करते हुए टिप्पणी

निकली। सिन्हा साहब ने कटिंग मेरे पास भेजी और दस-बारह शब्द अपनी ओर से शाबाशी के जोड़ दिए।

छोटी-सी बात, लेकिन कितने बड़े लोगों को इन नन्हे अमृत-विन्दुओं का ध्यान रहता है, जिनके सहारे ही तो अगणित हृदयों को जीता जा सकता है? सिन्हा साहब इस कला में जन्मजात दक्ष थे। अनायास ही वह प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों को उत्साहित कर देते थे। बहुत पहले की बात है—शायद १९०३-०४ की—जब सिन्हा साहब का अंग्रेजी का मासिक पत्र हिन्दुस्तान रिव्यू नया ही था। दिल्ली से एक अपरिचित लेखक की रचना आई, जिसमें ईसाई धर्म की बेहद प्रशंसा थी। सिन्हा साहब थोड़ा हिचके, लेकिन लेख असाधारण था। उसकी भाषा और अभिव्यंजना एक प्रतिभासंपन्न लेखनी का द्योतक थी। उन्होंने छाप दिया। उस युवक लेखक की असाधारण लेखनी ने तहलका मचा दिया, और कुछ दिनों बाद वह मेधावी पुरुष अपनी प्रखर विचार-शैली और उग्र राजनीति के कारण सर्वप्रसिद्ध हो गया। कुछ समय बाद सिन्हा साहब किसी कार्यवश दिल्ली गए, तो स्टेशन पर एक व्यक्ति ने मिलते ही उनके चरण छूए, मैं ही हरदयाल हूँ। हरदयाल—विलक्षण स्मरण-शक्ति से संपन्न हरदयाल, भारतवर्ष के क्रांतिकारियों में अग्रणी, गदर पार्टी के कर्णधार, अंग्रेजी राज के कट्टर दुश्मन हरदयाल, हमेशा के लिए सिन्हा साहब के स्नेहपात्र बन गए।

यों क्रांतिकारियों और उग्र राजनीति से सिन्हा साहब का कभी वास्ता नहीं रहा। वह नरम दल के समर्थक थे—लिबरल। गाँधीजी की राजनीति और आंदोलनों से वह प्रायः दूर ही रहे। वह युग ही दूसरा था और गाँधीजी का भारतीय राजनीति में प्रवेश होने तक देशभक्ति के अनेक मापदंड थे। किन्तु अपने-अपने सीमित क्षेत्रों में देश को जागृत करने में अनेक संभ्रांत और तेजस्वी व्यक्तियों ने हाथ बँटाया। सच्चिदानंद सिन्हा, अली इमाम, गणेशदत्त सिंह इत्यादि ने उस समय बिहार के शिक्षित मध्यवर्ग को नई चेतना देकर एक ऐसा समूह तैयार किया, जिसमें से परवर्ती राजनीतिक आंदोलनों के लिए कृतसंकल्प और सुयोग्य नेतृत्व मिल सका। सिन्हा साहब ने अपनी आँखों के सामने आमूल परिवर्तन होते देखे। निश्चय ही उनकी दृष्टि में राजनीति की वह उग्र और कोलाहलपूर्ण गतिविधि अटपटी जान पड़ी होगी। स्निग्ध वातावरण के आदी लिबरल सिन्हा साहब को धूलि-धूसरित कदमों का खुरदरापन अशोभन

लगा होगा। किन्तु स्वभावतः सिन्हा साहब बाह्य परिस्थितियों के कारण अपने को त्रस्त और क्षुब्ध बनाने के लिए तैयार नहीं थे। इसीलिए अन्य लिबरलों की तरह वह सक्रिय राजनीति में सराबोर नहीं हुए। मीटिंगों में भाग लेते, लोगों में चर्चा करते, कभी-कभी अखबारों में भी लिखा-पढ़ी करते, लेकिन सर-दर्द मोल लेने की इच्छा उन्हें कभी नहीं हुई। इसीलिए वह अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक नेता कभी नहीं हुए। किन्तु उनकी सलाह अक्सर ली जाती और आना-जाना तो उनके यहाँ लगा ही रहता। सन् १९४६ तक आते-आते एक वरिष्ठ नेता के रूप में उनका बराबर समादर होता रहा और जब स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद दिल्ली में कांस्टिट्यूएंट एसेंबली भारतवर्ष का संविधान बनाने बैठी, तो उसके सबसे वयस्क सदस्य होने के नाते डा० सच्चिदानंद सिन्हा ही एसेंबली के सर्वप्रथम अध्यक्ष बने और उन्हीं के सभापतित्व में एक तरह से उनके अनुज, डा० राजेन्द्र प्रसाद, अध्यक्ष चुने गए।

कुछ समय बाद डा० सिन्हा बीमार रहने लगे। संविधान बनकर तैयार हो गया और उसके चालू होने से पहले यह आवश्यक था कि एसेंबली के समस्त सदस्यों के संविधान-पत्र पर हस्ताक्षर हों। डा० सिन्हा पटना में बीमार पड़े हुए थे और हस्ताक्षर करने के लिए उनका नई दिल्ली पहुँचना असंभव था। प्रथम अध्यक्ष के हस्ताक्षर यों भी अनिवार्य थे।

एक दिन हम लोगों ने सुना कि भारतवर्ष का संविधान पटना आ रहा है। अपूर्व दृश्य था वह? रोगी की शय्या से सिन्हा साहब ने अपनी लंबी जिन्दगी के अंतिम छोर पर से (जिसका दूसरा छोर उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी सत्ता के मदोन्मत्त वातावरण में रहा होगा) स्वतंत्र भारत के नव संविधान पर हस्ताक्षर किए। लेकिन उससे भी अधिक विह्वलकारी दृश्य था तब, जब राजेन्द्रबाबू स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति के रूप में पहले-पहल पटना पहुँचे और उन्होंने सिन्हा साहब के चरण छूकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण किया। जो लोग उस समय उपस्थित थे, उनकी आँखों के सामने भीष्म पितामह का चित्र खिंच गया।

उनका यह अंतिम चित्र शायद कुछ भ्रम पैदा कर दे। निश्चय ही कुछ माने में सिन्हा साहब का वह रूप भीष्म पितामह का-सा रहा होगा, अपने जीवन-काल में देश के स्वप्नों को प्रतिफलित होते देखकर उन्हें शांतिदायक

संतोष की उपलब्धि हुई होगी। राष्ट्रपति के लिए आशीर्वाद अंतस्तल के गहनतम कोर से मुखरित हुआ होगा। यह सब सत्य है। लेकिन यह भी सत्य है कि एक पितामह की-सी निस्संगता उन्होंने कभी नहीं चाही। दुनिया की हँसी-खुशी से ऊपर उठकर इस रंगस्थली के खिलाड़ियों पर लोकोत्तर, निर्विकार मुस्कान-भरी दृष्टि डालना उन्हें नहीं सुहाया। वह रहस्य-भरी मुस्कान में नहीं, ठठाकर हँसने में यकीन करते थे—वह हँसी, जो सब रहस्यों का उद्घाटन कर दे, वह हँसी, जो उम्र के परदों को हटाकर सबको एक ही मंच पर ला बिठाए। इसीलिए उनकी बातचीत में विनोद का सतही खुलासा-पन मिलता था, जिसका सब कोई आनंद उठा सकते थे, न कि व्यंग्य की सांकेतिक सिकुड़न, जिसे दो-चार ही समझ सकें। डा० अमरनाथ झा ने एक किस्सा सुनाया। प्रयाग विश्वविद्यालय की सीनेट की मीटिंग थी। सीनेट विश्वविद्यालय की सबसे महत्त्वपूर्ण परिषद् थी और उसके सदस्यों को फेलो कहा जाता है। अंग्रेजी में फेलो शब्द का एक और अर्थ भी है—जो शेक्सपियर की रचनाओं में विशेषतः प्रयुक्त हुआ है—और जिसे हिन्दी के मुहावरे ऐरा-गैरा-नत्थू खैरा का प्रयाय माना जा सकता है। सीनेट की मीटिंग से पहले कोई सज्जन डा० सिन्हा के पास आकर पूछने लगे, सर आर यू ए फेलो ? (महोदय, क्या आप फेलो हैं ?) डा० सिन्हा ने उत्तर दिया, नो सर, आई एम ए जेंट्लमैन। (नहीं महोदय, मैं तो एक भद्र पुरुष हूँ)। हँसी के फव्वारे छूट पड़े।

सारी जिन्दगी उन्होंने इसी तरह हँसते-खेलते गुजारी। हो सकता है कि अपनी युवावस्था में उन्हें अनेक कटु अनुभव हुए हों। बिहार से विलायत जाने वाले पहले हिन्दुओं में से वह थे और लौटने पर शायद उन्हें खास विरोध का सामना करना पड़ा। अपनी जाति के वर्ग-विशेष के बाहर उन्होंने शादी की। संतान कोई हुई नहीं, इसलिए एक दत्तक पुत्र लिया। हमेशा अपने रहन-सहन का ढंग आलीशान रखा। मजाल क्या कि रुपए की तंगी का आभास किसी पर हो जाए। अतिथि-सत्कार, अच्छे कपड़े, अच्छा भोजन, हमेशा मजलिस की कहकहेबाजी, हमेशा आने-जानेवालों का ताँता—ऐसी थी उनकी दैनिक-चर्या। जीवन-यापन उनके लिए काल-यापन नहीं था या किसी पारलौकिक जीवन की तैयारी में उन्होंने अपने तात्कालिक अनुभवों को नीरस नहीं होने दिया। उमंगों को दबाया नहीं। मौज की छानी। कटुता

को पास फटकने नहीं दिया। कर्म-क्षेत्र में एमेचर रहे, लोक-व्यवहार में निपुण कलाविद्। मत्स्यगंधा की तरह चिर-नवीन आनंद की सुगंध में स्वयं तो विभोर रहे ही, औरों को भी सुवासित करते रहे। ऐसों ही को लक्ष्य करके शायद चंडीदास ने कहा है, 'सबाई ऊपरे मानुष तार ऊपरे केउ नाइ।'

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक ने सच्चिदानन्द सिन्हा के लिए 'एक जन्मजात चक्रवर्ती' विशेषण का क्यों प्रयोग किया है?
२. सिन्हा साहब अपने यहाँ भोजन के लिए लोगों को क्यों आमंत्रित करते थे?
३. सिन्हा साहब के 'डिनर टेबिल' पर किस तरह की बातें हुआ करती थीं?
४. क्या गंभीर विवेचन और वार्ता सचमुच सिन्हा साहब के स्वभाव के विपरीत थे? इस संबंध में लेखक के विचार अपनी भाषा में लिखिए।
५. सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति सिन्हा साहब के मोह, लगन और भावुकता के प्रमाण प्रस्तुत करें।
६. सिन्हा साहब के शिष्टाचार और कायदे की पाबंदी के दो उदाहरण दें।
७. इस पाठ के आधार पर निम्नलिखित कथ्य की पुष्टि करें:
'अनायास ही वह (सिन्हा साहब) प्रतिभा-संपन्न व्यक्तियों को उत्साहित कर देते थे।'
८. बिहार को जाग्रत करने में सिन्हा साहब के किन समकालीन व्यक्तियों ने हाथ बँटाया? ऐसे तीन व्यक्तियों का जीवन-वृत्त लिखकर वर्ग में प्रस्तुत करें।
९. सिन्हा साहब के किन गुणों को आप अपने जीवन में उतारना चाहते हैं? क्यों?
१०. निम्नलिखित पंक्तियों में सन्निहित भावों को स्पष्ट करें:
(क) 'क्षण की तह में जो चिरनवीन रस है, उसी का आस्वादन करते, क्षण की मर्यादा को ही डंके की चोट पर घोषित करते।'
(ख) 'भारतवर्ष में आदर्शवादिता और आवेशपूर्ण प्रेरणाओं के उस युग में शायद सिन्हा साहब तथ्यपरकता, मनमौजीपन और हल्की-सी अनास्था के प्रतीक थे।'
(ग) 'किन्तु स्वभावत: डाक्टर सिन्हा के व्यक्तित्व की यमुना वासुदेव के चरणों के समान गांभीर्य के चरण-स्पर्श करते ही लौट आती अपने चिरपरिचित कलकल-ध्वनि गुंजित प्रवाह पर।'
(घ) 'मत्स्यगंधा की तरह चिरनवीन आनंद की सुगंध में स्वयं तो विभोर रहे ही, औरों को भी सुवासित करते रहे।'

हरिशंकर परसाई

श्री परसाई का जन्म मध्य प्रदेश के जमानी (इटारसी के पास) नामक स्थान में सन् १९२४ ई० में हुआ। आपने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया है। कुछ दिनों तक अध्यापन के बाद आप स्वतंत्र लेखन के क्षेत्र में आए। शिष्ट हास्य-व्यंग्य में इने-गिने मूर्द्धन्य लेखकों में आपको स्थान प्राप्त है। आपकी सशक्त तथा लोकप्रिय रचनाएँ 'नई कहानियाँ', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय' इत्यादि प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। परसाई जी मात्र विनोद या परिहास के लिए नहीं लिखते। वर्तमान समाज में फैले हुए भ्रष्टाचार, ढोंग, अवसरवादिता, अंधविश्वास, साम्प्रदायिकता प्रभृति कुप्रवृत्तियों पर चुटीला व्यंग्य करते हुए वे आज की जटिल परिस्थितियों को समझने के लिए विवेकपूर्ण अंतर्दृष्टि प्रदान करते हैं।

आपने जबलपुर से 'वसुधा' नाम की एक साहित्यिक पत्रिका निकाली और कई वर्षों तक उसे चलाते रहे। अनेक पत्र पत्रिकाओं के नियमित कालम परसाई की लेखनी के बल पर पाठकों को आकर्षित करते रहे हैं। परसाई की लोकप्रियता निर्विवाद सिद्ध है।

परसाई जी की निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं:

'हंसते हैं रोते हैं', 'जैसे उनके दिन फिरे', 'रानी नागफनी की कहानी', 'तट की खोज', 'तब की बात और थी', 'भूत के पाँव पीछे', 'बेईमानी की परत'।

'बेचारा भला आदमी' नामक निबंध में परसाई जी ने अपनी व्यंग्यपूर्ण शैली में इस मुहावरे के प्रयोग में सन्निहित वर्तमान समाज की स्वार्थ-भावना पर प्रकाश डाला है।

हरिशंकर परसाई
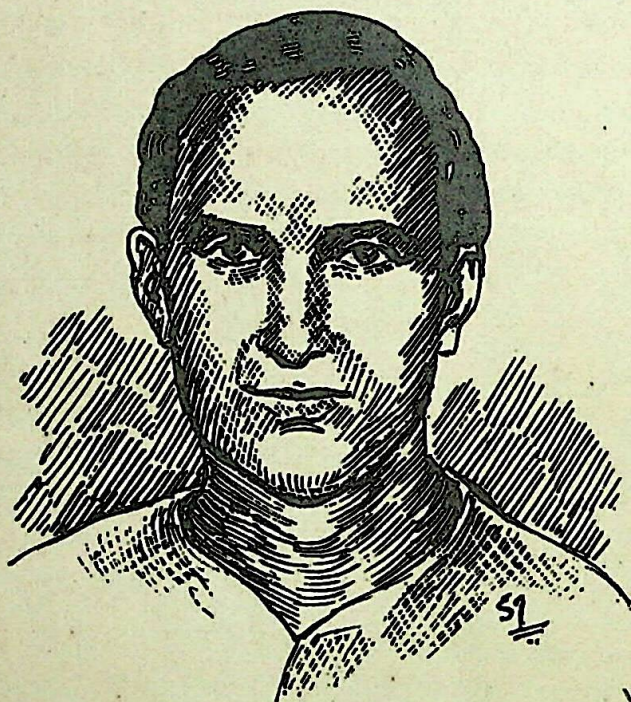
बेचारा भला आदमी

मैंने सुना कि एक दूकानदार ने भले आदमी के रूप में मेरा उदाहरण दिया। मैं उदाहरण बनने से बहुत डरता हूँ। मार्क ट्वेन ने कहा है कि लोग जिस चीज से सबसे अधिक चिढ़ते हैं, वह है अच्छा उदाहरण। अच्छा उदाहरण एक बार बन जाने पर आदमी अच्छाई का गुलाम बन जाता है। मेरे एक मित्र को लोगों ने जवानी में ही त्याग का उदाहरण बनाकर उनकी जिन्दगी बरबाद कर दी। मैं अच्छेपन का उदाहरण बनकर नहीं रहना चाहता। कोई बुराई करता है, तो मुझे संतोष होता है कि कभी भूले-भटके उस आदमी का भला मेरे हाथों हो गया होगा। तारीफ से डर लगता है। कोई मुँह पर तारीफ करे तो उससे पूछ लेता हूँ कि बता भाई मैं कौन-सी बेवकूफी करूँ : नाली में कूद पड़ूँ ? धूल में लोटूँ ? तारीफ करके आदमी से कोई भी बेवकूफी कराई जा सकती है। पीछे कोई किसी की तारीफ करेगा इस बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा। हम कुछ मित्रों के बारे में एक बार एक व्यक्ति ने आश्चर्य से कहा ये लोग तो ऐसे दोस्त हैं कि पीठ पीछे भी एक दूसरे की तारीफ करते हैं। हम लोगों ने बाद में इस पर बहुत विचार किया और इस नतीजे पर पहुँचे कि हमलोग मित्रता के आधार की अवहेलना कर रहे हैं---मित्र तो वही होता है, जो मुँह पर तारीफ करे, पीठ पीछे तारीफ करनेवाला भी कोई मित्र है !

दूकानदार मेरा मित्र नहीं है। उसने मुझे भला आदमी कहा, तो मैं चिन्तित हो गया। उसकी दूकान से मैं उधार सामान लेता हूँ और जितना बिल वह बता देता, बिना हिसाब देखे दे देता हूँ। हिसाब न देखना कोई मेरा देवत्व नहीं है, आलस्य है। कई बार बुराई भलाई के रूप में प्रचार पाती है। एक धनवान लेखक के बारे में यह बुराई फैली कि वह पैसे देकर दूसरों से पुस्तकें लिखवाता है। मैंने लोगों को समझाया कि अगर तुम उनकी पुस्तकें पढ़ो, तो तुम्हें विश्वास हो जाएगा कि वे उन्होंने लिखी हैं। इतना रद्दी उनके सिवाय हिन्दी में और कौन लिख सकता है। घटिया लिखना उनकी ईमानदारी का सबूत हो गया। कई दूकानदार की मीठी बातें जो व्यापारिक

चतुरता है, मानवीयता के नाम से बाजार में चलती है। मेरा आलस्य भलमनसाहत के रूप में चलता है। दूकानदार से कोई ग्राहक हिसाब को लेकर झगड़ रहा था। दूकानदार ने कहा, आप तो बड़ी झिकझिक करते हैं। परसाई जी बेचारे भले आदमी हैं। जो हिसाब बता दो बिना देखे दे जाते हैं। मुझे देखकर ग्राहक बिल्कुल प्रभावित नहीं हुआ। उसने मुझे भला तो नहीं, पर बेवकूफ जरूर समझा होगा।

मैं भी चिन्तित हो गया। मैं कोई खास भला नहीं हूँ। देना भूल जाता हूँ, लेना नहीं भूलता। मैं भला हूँ, क्योंकि आलसी हूँ। बुरा होने के लिए हाथ, पाँव और मन कों हिलाना पड़ता है। अगले महीने मैंने बुरा आदमी बनने की कोशिश की। मैं घर में हिसाब रखता गया। महीने के अंत में जब उससे हिसाब पूछा तो पाया कि उसने दस रुपए बढ़ा लिए हैं। काफी मँहगा सर्टिफिकेट दे रहा था वह मुझे। विश्वविद्यालय से मैंने दस रुपए भेजकर एम० ए० का सर्टिफिकेट ले लिया था, जो मुझे जिन्दगी-भर शिक्षित बनाने के लिए काफी है। दूकानदार का सर्टिफिकेट जिसे मैं मढ़ाकर टाँग भी नहीं सकता १० रुपए में सिर्फ एक महीने के लिए मिलता है। मुझे हर साल १२० रुपये इसलिए देने पड़ते हैं कि एक छोटे से शहर का एक जनरल मरचेंट मुझे भला आदमी कहे। अगर मैं उससे शेष जिन्दगी यानी लगभग ३० साल सामान खरीदता रहूँ तो लगभग साढ़े तीन हजार रुपए मैं सिर्फ इसके दूँगा कि उसने मुझे भला आदमी कहा। सारा बाजार मुझे भला कहे, इसके लिए तो पूरी आमदनी बाँध देनी पड़ेगी। मुझे यह मंजूर नहीं। मैं हिसाब देखने लगा। भले आदमी के उदाहरण के लिए किसी और का उपयोग होगा।

लेकिन तब से मैं भले आदमियों के बारे में छानबीन कर रहा हूँ। एक मकान-मालिक कहता था कि पाण्डेजी बेचारे भले आदमी हैं। पाण्ड़ेजी उसके मकान में किराए से रहते हैं। एक बरसात के दिन मैं पाण्डेजी के घर गया। देखा कि सारे घर में पानी टपक रहा है। उनसे कहा कि मकान मालिक से मरम्मत के लिए क्यों नहीं कहते। पाण्डेजी ने लापरवाही से कहा, ऊँह, १०-१५ दिन ही तो पानी के हैं। निकल जाएँगे। मकान मालिक कहता है कि पाण्डेजी बेचारे भले आदमी हैं। एक सज्जन अफसर कहते कि राजेन्द्र मास्टर बेचारा भला आदमी है। जाँच करने पर मालूम हुआ कि मास्टर साहब उनके बेटे को मुफ्त में पढ़ा जाते थे।

मैं देखता हूँ कि हर इस तरह का प्रशंसक भला के पहले बेचारा जरूर लगाता है—बेचारा भला आदमी है। यह अकारण नहीं है। हमारी पूरी विचार-प्रक्रिया इन दो शब्दों के साथ चलने में झलकती है। हम भला उसी को कहेंगे, जो बेचारा हो। जब तक हम किसी को बेचारा न बना दें, तब तक उसे भला नहीं कहेंगे। क्यों? इसके दो कारण हैं—पहला तो यह कि जो बेचारा नहीं है, वह हमें अपने लिए चैलेंज लगता है। उसे हम भला क्यों कहें? दूसरा कारण यह है कि जो बेचारा है, उसे हम खा सकते हैं, लूट सकते हैं—उसका शोषण कर सकते हैं। किसी को भला कहना उसकी प्रशंसा नहीं है। उसे बेचारा करके उस पर दया प्रकट करना है। जो हर काम के लिए चंदा दे देता है, वह बेचारा भला आदमी है। जो रिक्शावाला कम पैसे ले लेता है, वह बेचारा भला आदमी है। जो लेखक बिना पैसे लिए अखबार के लिए लिख देता है, उसे संपादक बेचारा भला आदमी कहते हैं। टिकट क्लेक्टर बेचारा भला आदमी है,क्योंकि वह बिना टिकट निकल जाने देता है। अपनी व्यवस्था ने बहुत सोच-समझकर यह मुहावरा तैयार किया है।

पिछले दस सालों से एक व्यक्ति के बारे में सुन रहा हूँ कि वह बेचारा भला आदमी है, लँगोटी तक उतारकर दे देता है। उस भले आदमी ने कोट उतारकर दे दिया, कमीज उतार कर दे दिया, टोपी उतारकर दे दी, धोती उतारकर दे दी और लँगोटी उतारकर दे ही रहा था कि सावधान हो गया। उसने फिर पूरे कपड़े पहन लिए। अब कोई उसे भला आदमी नहीं कहता, क्योंकि वह बेचारा नहीं रहा।

एक स्कूली किताबें छापने और बेचनेवाला मुझे बेचारा भला आदमी कहता था। मैं उसे पुस्तकें लिख देता और जो वह देता, ले लेता। उसके बाप-दादे पीढ़ियों से ऐसे बेवकूफ की तलाश में थे। अब जाकर मैं मिला था। वह मेरा यश फैलाता था—परसाई बेचारा भला आदमी है। एक बार मैं बीमार पड़ा। तभी मैं उसके लिए पुस्तक लिख रहा था, जो आधी दे दी थी, और आधी की पांडुलिपि मेरे पास थी। वह मेरी तबीयत पूछने आया। बीमारी के बारे में पूछा, लेखक के संघर्ष के प्रति सहानुभूति बतलाई, संसार की असारता पर मत प्रकट किया और अंत में सिद्ध किया कि लिखना तो तपस्या है। उसने मुझे यह भी समझाया कि सच्चा लेखक तो भौतिक

उपलब्धियों से मुँह फेर लेता है, वह तो त्यागी होता है। (चोर ही सबसे अधिक इस बात का प्रचार करते हैं कि इस महान् देश में पहले लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे)। मैं उसके प्रवचन को सुनता रहा। जब उसने बाकी पांडुलिपि माँगी तो मैंने कहा कि मुझे पैसों की जरूरत है। आप शाम तक भेज दीजिए। एक मिनट पहले के उस ज्ञानी का चेहरा एकदम गिर गया, उसकी आँखों में क्लेश आ गया और वह ऐसा कातर हो गया, जैसे मैंने उससे कह दिया हो कि भाई, तुम यहाँ बैठे हो, घर में तुम्हारे पिताजी की मृत्यु हो गई। इसके बाद उसने मुझे भला आदमी नहीं कहा। कहता था—मैं तो समझता था कि वह भला आदमी है। पर मैं तो उसकी तबीयत देखने गया और वह पैसे माँगने लगा।

मुझे इस बेचारा भला आदमी से डर लगता है। अगर देखता हूँ कि मेरे बगल में ऐसा आदमी बैठा है, जो मुझे बेचारा भला आदमी कहता है, तो जेब सँभाल लेता हूँ। क्या पता वह जेब काट ले।

प्रश्न और अभ्यास

१. लेखक भले आदमी का उदाहरण बनने से क्यों डरता है?
२. 'मित्र तो वही होता है, जो मुँह पर तारीफ करे, पीठ पीछे तारीफ करने वाला भी कोई मित्र है!'
लेखक की इस उक्ति का व्यंग्य अपनी भाषा में स्पष्ट करें।
३. लेखक का दूकानदार मित्र उसे भला आदमी क्यों कहता है? क्या आप ऐसा भला आदमी बनना पसंद करेंगे? सकारण उत्तर दें।
४. 'भला के पहले बेचारा' विशेषण क्यों लगाया जाता है?
५. लेखक की बीमारी में एक किताब छापने वाला उसकी तबीयत पूछने आया था। इस प्रसंग को 'वार्ता' के रूप में लिखें।
६. पिछले अन्य पाठों से आप इस पाठ को किस प्रकार भिन्न पाते हैं?
७. इन संज्ञाओं से विशेषण बनाकर उन विशेषण-पदों से वाक्य बनाएँ:
उदाहरण, विश्वास, पुस्तक, विद्यालय, बाजार, उपयोग, संपादक, व्यवस्था तपस्या।

८. नीचे लिखे वाक्यों का विश्लेषण करें:

(क) दूकानदार मेरा मित्र नहीं है।

(ख) मैं भला हूँ, क्योंकि आलसी हूँ।

(ग) भले आदमी के उदाहरण के लिए किसी और का उपयोग होगा।

(घ) जाँच करने पर मालूम हुआ कि मास्टर साहब उसके बेटे को मुफ्त में पढ़ा जाते हैं।

टिप्पणियाँ

हमारे साहित्य की विशेषताएँ

ऐहिक : इस लोक का।

श्री सत्यनारायण कविरत्न

मालतीमाधव : संस्कृत के नाटककार भवभूति का प्रसिद्ध नाटक। सत्यनारायण कविरत्न ने इसका हिन्दी अनुवाद किया था।

पारिजात : पाँच देववृक्षों में से एक।

पंच-परमेश्वर

वक्रोक्ति : एक अर्थालंकार जिसमें काकु या श्लेष से वाक्य का भिन्न अर्थ होता है।

अन्योक्ति : एक अर्थालंकार जिसमें अन्य के प्रति कहे हुए कथन को अन्य पर घटाया जाए।

मजदूरी और प्रेम

ब्रह्माहुति : वैदिक साहित्य में ऐसा उल्लेख है कि ब्रह्मा ने सृष्टि के लिए अपनी आहुति दी।

ऋषियों ने देखा था सुना न था : ऋषि द्रष्टा को कहते हैं। "ऋषिस्त्रिकालदर्शी स्यात्", "ऋषयो मंत्रद्रष्टारः"।

ध्रुपद : एक गान-शैली।

मल्हार : एक राग जो वर्षाऋतु में गाया जाता है।

जोन ऑफ आर्क : (सन् १४१२–१४३१) फ्रांस की एक देशभक्त वीरांगना।

टाल्स्टाय : (सन् १८२८ से १९१०) विश्वविख्यात रूसी साहित्यकार।

उमरखैयाम : (सन् १०४८–११३१ अनुमति) फारस के एक प्रसिद्ध कवि जिनकी रुबाइयाँ प्रसिद्ध हैं।

रस्किन : (सन् १८१९–१९०० ई०) कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों का प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक।

उत्साह

मुद्राराक्षस : संस्कृत नाटककार विशाखदत्त का एक प्रसिद्ध नाटक। भारतेन्दु ने हिन्दी में इसका अनुवाद किया था।

अहिंसा की पुण्यभूमि

प्लेटिनम : एक अत्यंत ही चमकीला बहुमूल्य पदार्थ।

अमृतसर का सुवर्ण-मंदिर: अमृतसर नामक स्थान में सिक्ख-संप्रदाय का एक प्रसिद्ध मंदिर।

वज्रलेप रास्ता : पक्की सड़क।

शेर का शिकार

बाइसन : एक जंगली भैंसा।

राँभ : झाड़ी।

डाँग : घना जंगल।

झाँस : झाड़ियों का समूह।

गुल्ले : पौधे।

फेकरना : शब्द करना।

तिफुंसा : तीन शाखाओं से बना हुआ आश्रय।

झाँका : मचान का वह छेद जो झाँकने के लिए बनाया जाता है।

पतोखी : एक प्रकार की चिड़िया जो रात में बोलती है।

छोहें : शेर के शरीर की धारियाँ।

छपके : बाँस के चीरे हुए लंबे पतले टुकड़े।

खिसारा : लंबे दाँतों वाला।

उचाट : उछाल।

भारत का एक ब्राह्मण

क्रीड़ा कंदुक बनना : दूसरों के इशारे पर नाचना।

देवपुत्र : सिकंदर के सैनिक उसको आदर के लिए देवपुत्र कहा करते थे।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अवशेष

सार्थ : कारवाँ।

दरिद्रनारायण

अटका : पके चावल का प्रसाद जो जगन्नाथपुरी में देवता को चढ़ता है।

प्रार्थना

मुक्त संग : संग अथवा आसक्ति रहित। अनासक्त।

राष्ट्र का स्वरूप

निष्कारण धर्म : ऐसा कर्त्तव्य जिसमें स्वार्थ आदि की कोई भावना नहीं रहती।

संततवाही : सदा प्रवाह में रहनेवाला, स्थायी।

कबंध : सिर-रहित धड़।

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता

मुद्रांकित : छाप से युक्त।

स्वारूप्य : व्यक्तित्व, वैशिष्ट्य।

इलियट : टी० एस०, जन्म सन् १८८८ ई०, आधुनिक अंग्रेज कवि और आलोचक। इन्हें सन् १९४८ ई० में नोबुल पुरस्कार मिला।

रिक्थ : विरासत।

कालिदास : संस्कृत के कवि और नाटककार।

बाण : हर्षवर्द्धन के राजकवि, क़ादंबरी के रचयिता।

श्रीहर्ष : नैषध काव्य के रचयिता।

अमरुक : संस्कृत के प्रख्यात मुक्तक कवि।

जयदेव : संस्कृत कवि 'गीत-गोविन्द' के रचयिता।

नाट्यशास्त्र : भरत द्वारा प्रणीत नाट्य विषयक प्रसिद्ध शास्त्र।

ध्वन्यालोक : आनंदवर्द्धन-रचित काव्यशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रंथ।

काव्यप्रकाश : मम्मट का प्रसिद्ध ग्रंथ जिसमें काव्य के विविध अंगों का विवेचन है।

साहित्य-दर्पण : कविराज विश्वनाथ का लिखा प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ।

रस गंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ का लिखा प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ।

एक जन्मजात चक्रवर्ती

मत्स्यगंधा : सत्यवती, व्यास-माता। कहा जाता है कि धीवर-पोषित इस कन्या के शरीर से मछली की गंध आती थी। पराशर मुनि के उपचार से वह गंध सुवास में बदल गई। तब से सत्यवती योजन-गंधा कहलाने लगी थी।

बेचारा भला आदमी

पांडुलिपि : लेखक द्वारा लिखित पुस्तक का वह रूप जो मुद्रण के पूर्व रहता है।